प्रथम संस्करण, २००० प्रतियाँ
मूल्य २)
संवत् २००५

भूमिका

'चुने फूल' में पद्यों का संग्रह एक निश्चित प्रयोजन से हुआ है। जो विद्यार्थी हिंदी साहित्य का विशाल और गंभीर अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें आरंभ से चुने हुए कवियों की कुछ ही रचनाओं को लेकर अभ्यास आरंभ करना सरल होता है। अभ्यास के लिये भी काव्य भाषा और काव्यात्मा के परिचय के साथ काव्य रूपों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। इन्हीं काव्य रूपों का परिचय इस संग्रह का मुख्य प्रयोजन है।

हिंदी में गीत, मुक्तक तथा महाकाव्य के रूपों के साथ ही उन आधुनिक काव्य रूपों का सफल प्रयोग हुआ है जो आधुनिक युग की देन हैं। इन सभी रूपों से परिचय कराने का इस संग्रह में यत्न किया गया है।

भाषा की दृष्टि से अवधी, व्रज और खड़ी बोली तीनों की सरल सुंदर और टकसाली रचनाएँ चुनी गई हैं। छंदों की ओर भी संग्रह-कर्त्ता का ध्यान रहा है। और इन सब बातों के साथ काव्य वस्तु की उत्तमता और सरलता का भी विचार किया गया है। सुकुमार विद्यार्थियों को कबीर, प्रसाद, निराला और पंत के काव्यों के अनुशीलन में कुछ कठिनाई का अनुभव होता है। इसीलिये कुछ टिप्पणियाँ जोड़ दी गई हैं। इन टिप्पणियों का उद्देश्य केवल मार्ग दर्शन है। इसी प्रकार ऐतिहासिक भूमिका, काव्य रूप, छंद, भाषा, सरलार्थ आदि का अध्ययन आरंभ में किया जाता है। परंतु काव्य रचना के अर्थ के लिये प्रत्येक विद्यार्थी स्वतंत्र होता है। व्याख्यात्मक आलोचना के अनंतर विद्यार्थी कवि की साहित्यिक आलोचना सीखता है। इसी प्रयोजन से प्रत्येक कवि का साहित्यिक परिचय भी यथास्थान जोड़ दिया गया है।

मेरे प्रिय शिष्य श्री किशोरीलाल गुप्त एम० ए० (अध्यापक, शिवली कालेज, आजमगढ़) टिप्पणियाँ लिखने के लिये आशीर्वाद के पात्र हैं।

पद्मनारायण आचार्य

विषय-सूची

कबीर

कबीर की कविता

कबीर का स्थान हिंदी साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण है। इनका रहस्यवादी साहित्य भारतीय परंपरा की निधि है। कबीर के पहले से ऐसी काव्यधारा चली आ रही थी और पीछे भी वह अखंड रूप में बहुत दिनों तक चलती रही। उसका प्रभाव तो आधुनिक साहित्य में भी वर्तमान है।

कबीर हिन्दी के भक्तिकाल की एक प्रसिद्ध और लोकप्रिय काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। उस धारा को ऐतिहासिक निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा अथवा संत काव्यधारा कहते हैं। कबीर उसके प्रथम और श्रेष्ठ कवि हैं। उनका आलोचन ही पूरी शाखा अथवा धारा का परिचय बन जाता है।

विश्लेषण की दृष्टि से कबीर की काव्य वस्तु साधनात्मक है। उनके काव्य में व्यक्तिगत साधना का अनुभव ही प्रधान है। इसीलिए उनका धर्म, समाज लोक व्यवहार आदि का वर्णन उसी साधना के दृष्टिकोण से हुआ है। वे शुद्ध हृदय के भक्त थे। इसीसे उनके काव्य में शुद्ध अनुभूति और सत्य का तेज है। यद्यपि आलोचकों ने कबीर काव्य में समाज सुधार, सर्वधर्मसमन्वय, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, एकेश्वरवाद, रहस्यवाद आदि अपनी अपनी रुचि के अनुसार ढूँढ़ निकाले हैं तथापि उसमें सबसे प्रधान वस्तु है सर्वजयी जीवनानुभव। इसीसे साधना और लोक विचार के आवरण में भी काव्य की आत्मा का आकर्षण पूरा मिलता है।

यद्यपि कबीर ने सदा ऐसे आनन्द लोक को सामने रखा है जो सामान्य लोगों की पहुँच के बहुत परे है और उनका आदर्श भी वह दिव्य जीवन है जो बुद्धि ग्राह्य और अतीन्द्रिय है तो भी वे साधारण मानव जीवन को कभी नहीं भुलाते। अपने दिव्य अनुभव का लोकानुभव से उन्होंने ऐसा समन्वय कर लिया है कि उनकी बातें साधारण मनुष्यों को भी ग्राह्य और प्रिय होती हैं।

भाव की दृष्टि से यद्यपि कबीर शान्त रस के ही कवि हैं तथापि उनमें वैष्णव भक्तों का माधुर्य भाव पर्याप्त मात्रा में मिलता है। उनकी कटुता और झाड़ फटकार कर चल देने की वृत्ति ने एक तेज और मिठास का सरल वातावरण बना दिया है। उसमें काव्य प्रेमियों को शुद्ध जीवन रस का अनुभव होता है।

भाषा और शैली में भी कबीर का निजी आकर्षण है। कबीर ने कला सीखकर अथवा कवि बनकर कविता नहीं लिखी है। वे चलते हैं अपने सत जीवन को प्रकट करने, अपने मार्मिक अनुभव को सुनाने पर सहज ही में उनकी अनगढ़ वाणी कविता बन जाती है। इसीसे उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार विधान सभी पूर्ण रूप से सहज सुन्दर और स्वाभाविक हैं। भाषा भी उनकी आज्ञा का पूरा पालन करती है। यद्यपि कभी कभी उनकी भाषा में साहित्य और व्याकरण के संस्कार नहीं देख पड़ते तथापि वह कवि के असाधारण भावों को व्यक्त करने में सदा सफल होती है। इसी प्रकार उनकी भाषा शास्त्रीय न होने पर भी परंपरा से चली आती हुई विशेषताओं से पूर्ण है।

परिचय

इस सरल, स्वभाविक और लोकप्रिय साहित्य के जन्मदाता का जन्म हुआ था हिन्दी के भक्तिकाल मे अनुमानतः सं० १४५६ में। और मृत्यु का काल माना जाता है १५७५ संवत्। इनकी वाणी का संग्रह

बीजक के नाम से प्रसिद्ध है। उसके तीन भाग हैं—साखी, सबद और रमैनी। साखी में साधना तथा सिद्धान्त की बातें हैं और वे प्रायः दोहों में हैं। सबद और रमैनी में पद हैं। साखियों को भाषा में राजस्थानी और पंजाबी का मेल है। पदों में व्रजभाषा है, कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार मिलता है।

कबीर साहित्य के अनेक ग्रंथ और संग्रह मिलते हैं पर सबसे अधिक प्रामाणिक है कबीर ग्रंथावली जिसका प्रकाशन काशी ना० प्र० सभा ने किया है। उसमें साखियाँ साधना के अंगों के क्रमानुसार संग्रह की गई हैं। और पद संगीत की दृष्टि से।

कबीर

बिरह कौ अंग

रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥ १ ॥
अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पैं गोविंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥ २ ॥
चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ॥ ३ ॥
वासरि सुख नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुत्या राम सूं, नाँ सुख धूप न छाँह ॥ ४ ॥
बिरहनी ऊभी पथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥ ५ ॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं बिश्राम ॥ ६ ॥
बिरहिन ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ ७ ॥
मूवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणें काम ॥ ८ ॥
अंदेसड़ा न भाजिसी, सदेसौ कहियां।
कै हरि आया भाजिसी कै हरि ही पासि गया ॥ ९ ॥
आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥१०॥

यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥११॥
यहु तन जालौं मसि करौ, लिखौं राम का नाउं ।
लेखणि करू करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं ॥१२॥
कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ ।
एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ ॥१३॥
चोट सताणीं विरह की, सब तन जर जर होइ ।
मारण हारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ ॥१४॥
कर कमाण सर साधि करि खैंचि जु मार्‍या माहि ।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवै नाहि ॥१५॥
जबहूँ मार्‍या खैंचि करि, तब मैं पाई जाणि ।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि ॥१६॥
जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सचपाऊं नहीं ॥१७॥
विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम विवोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ॥१८।
बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधु अंग न मोड़ही, ज्यूं भावै त्यूं खाव ॥१९॥
सब रंग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥२०॥
विरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलितान ।
जिस घटि विरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥२१॥
अखड़ियां झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥
इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यू जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥२३॥

नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥२४॥
अंखड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जांणौं दुखड़ियां ।
साईं अपणौं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियां ॥२५॥
सोईं आंसू सजणां, सोईं लोक बिड़ाहिं ।
जै लोइण लोंहीं चुवै, तौ जांणों हेत हियांहि ॥२६॥
कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त ।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त ॥२७॥
जौ रोऊं तौ बल घटै, हँसौं तौ राम रिसाइ ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुंण काठहि खाइ ॥२८॥
हँसि हँसि कंत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ ।
जे हाँसें ही हरि मिलै तौ नहीं दुहागनि कोइ ॥२९॥
हाँसी खेलौं हरि मिले, तो कौन सहै षरसान ।
काम क्रोध तृष्णां तजै, ताहि मिले भगवान ॥३०॥
पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ॥३१॥
डारी खाँड पटकि करि अंतर रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥३२॥
नैंनां अंतरि आचरूं निस दिन निरषों तोहि ।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥३३॥
कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै भाइ ॥३४॥
कै बिरहनि कू मीच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझणां, मोपैं सह्या न जाइ ॥३५॥
बिरहणि थी तौ क्यूँ रहीं, जली न पिव के नालि ।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ॥३६॥

हौं विरह की लकड़ी, समझि समझि धुँधाऊँ।
छूटि पड़ौं या विरह तैं, जे सारीही जलि जाऊँ ॥३७॥
कबीर तन मन यौं जल्या, विरह अगनि सूँ लागि।
मृतक पीड़ न जॉणई, जाँणैंगी यहु आगि ॥३८॥
विरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्याँ जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ ॥३९॥
परबति परबति मैं फिर्‍या, नैन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥४०॥
फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ।
जिहिं जिहिं भेषाँ हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउँ ॥४१॥
नैंन हमारे जलि गये, छिन छिन लोड़ै तुझ।
नाँ तूँ मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुझ ॥४२॥
भेला पाया श्रम सौं, भौसागर के माँहि।
जे छाँड़ौं तो डूबिहौं, गहौ त डसिये बाँह ॥४३॥
रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥४४॥
सुखिया सब संसार है, खायै अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै ॥४५॥

सूरदास

निर्णयवादी आलोचना व्याख्या और दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर रहती है। प्राचीन परंपरा के एक आलोचक ने लिखा है—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करहिं प्रकास॥

आधुनिक-युग की आलोचना का मत है कि "तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो। इस प्रकार आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार सूर का क्षेत्र परिमित है। एक दूसरी आपत्ति यह है कि सूर में लोकपक्ष और लोकसंग्रह का अभाव है। तीसरी आपत्ति यह है कि इनके लीला साहित्य में प्रेम की ऊँची व्यंजना होने पर भी मर्यादा तोड़नेवाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। भक्तों के लिए सूर के लोकोत्तर शृंगार में शुद्ध भक्ति है पर सामान्य पाठकों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

ऊपर के इन दोनों मतों का स्पष्ट विचार कर लेने से सूर के अध्ययन और आलोचन में प्रवेश हो सकता है। प्राचीन पद्धति के अनुसार काव्य मानव की संकल्पात्मक अनुभूति है। काव्य आत्मविस्मृति और तन्मयता का लोक है। वहाँ जो शुद्ध अनुभूति मिलती है वह पाठक को एक नई दृष्टि दे देती है। सूर कवि ने बंद आँखों से जिस प्रेम लोक को देखा था उसे इसी नई दृष्टि से देखना चाहिए। सूर का युग उस नई दृष्टि को पाकर कृतार्थ हुआ था। उस युग की संस्कृति और कला में नवीन आलोक फैल गया था। प्रत्येक सहृदय अपने घर को वृंदावन समझता था और अपने घर में राधाकृष्ण, यशोदा, नन्द

आदि का दर्शन करता था। साहित्य गोष्ठी में आज भी सूर की वाणी सौंदर्य और आनंद की सजीव मूर्तियाँ खड़ी कर देती है। सूर की यह शक्ति अद्वितीय और अनुपम है। इसका कारण है सूर की प्रतिभा और और आध्यात्मिक साधना।

दूसरे प्रकार की आलोचना का कारण है परिचय का अध्ययन प्रकार। वहाँ कवि का जीवन और युग सामने रखकर कविता का अध्ययन किया जाता है। कविता वहाँ प्रत्यक्षवादी दृष्टि से लौकिक जीवन का प्रतिबिंब मानी जाती है। इसीलिए इस दृष्टि से अध्ययन करने पर लोक जीवन और समाज का विचार महत्वपूर्ण हो जाता है। प्राचीन आलोचक चित्त-वृत्तियों के साधारणीकरण में काव्यानन्द का मर्म पाते हैं और आज के नये समीक्षक चित्त-वृत्तियों के प्रतिबिंब में काव्य का तत्त्व ढूँढ़ते हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक और ऐतिहासिक इन दो दृष्टिकोणों का भेद जानने से इन भिन्न आलोचनाओं का कारण स्पष्ट हो जाता है। पर एक आश्चर्य की बात है कि सूर की भावव्यंजना और भाषा की सफाई पुराने और नये सभी आलोचक एक स्वर से उत्तमकोटि की मानते हैं। उनकी गीतशैली भी अपनी तीव्रता और प्रेषणशक्ति के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार मतभेद केवल वस्तु के तत्त्व में ही केंद्रित होता है।

सहृदय पाठक सूर के पद को पढ़ते ही देखता है कि उनकी व्रजभाषा में साहित्य परंपरा और लोक व्यवहार का मेल है। उसमें रीति, वृत्ति, गुण, लक्षण, अलंकार और रस आदि सभी अंगों की सुंदरता सहज भाव से मिलती है। इसीलिए अधिकारी सहृदय के लिए उसमें निर्दोष काव्यानंद मिलता है।

सूरदास

१

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा—सब्द—रसाल ॥
भ्रम भोयौ मन भयो पखावज, चलत असंगत चाल ।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल ॥
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल ॥
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल ॥

२

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ ॥
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ ॥
जब मिलि गये तब एक बरन है, गंगा नाम परौ ।
तन माया, ज्यौ ब्रह्म कहावत, सूर सुमिलि बिगरौ ॥
कै इनको निराधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ॥

३

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ ।
निरखि-निरखि मुख कहति लाल सौं, मो निधनी के धनियाँ ॥

अति कोमल तन चितै स्याम को, बार बार पछितात।
कैसैं बच्यौ, जाऊँ बलि तेरी, तृनावर्त कैं घात॥
न जानौं धौं कौन पुन्य तैं को करि लेत सहाइ।
वैसौ काम पूतना कीन्हौ, इहिं ऐसौ कियौ आइ॥
माता दुखित जानि हरि बिहँसे, नान्हीं दँतुलि दिखाइ।
सूरदास प्रभु माता चित तैं दुख डार्‌यौ बिसराइ॥

४

मोहन काहैं न उगिलौ माटी।
बार बार अनरुचि उपजावति, महरि हाथ लिये साँटी।
महतारी सौं मानत नाहीं कपट चतुरई ठाटी॥
बदन उघारि दिखायौ अपनौ नाटक की परिपाटी।
बड़ी बार भई, लोचन उघरे, भरम जवनिका फाटी।
सूर निरखि नँदरानि भ्रमित भई, कहति न मीठी खाटी।

५

जसोदा ऊखल बाँधे स्याम।
मन मोहन बाहिर ही छाँड़े, आपु गई गृह काम।
दह्यौ मथति, मुख तैं कछु बकरति गारी दे लै नाम॥
घर घर डोलत माखन चोरत, षट रस मेरैं धाम।
व्रज के लरिकनि मारि भजत हैं, जाहु तुमहु बलराम।
सूर स्याम ऊखल सौं बाँधे, निरखहिं व्रज की बाम॥

६

जागो हो तुम नंदकुमार।
हौं बलि जाउँ मुखारबिंद की, गो सुत मेलौ खरिक सम्हार॥
अब लौं कहा सोए मनमोहन, और बार तुम उठत सवार।
बारहिं बार जगावति माता, अम्बुज-नैन भयो भिनुसार॥

दधि मथि के माखन बहु देहौं, सकल ग्वाल ठाढ़े दरबार।
उठि के मोहन बदन दिखावहु, सूरदास के प्रान अधार॥

७

मैया री मोहि दाऊ टेरत।
मोकौं बन फल तोरि देत हैं, आपुन गैयनि घेरत॥
और ग्वाल सग कबहुँ न जैहौं वै सब मोहि खिझावत।
मै अपने दाऊ सँग जैहौं, बन देखैं सुख पावत॥
आगें दै पुनि ल्यावत घर कौं तू मोहि जान न देति।
सूरस्याम जसुमति मैया सौं हा हा करि कहै केति॥

८

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइँ॥
जौं न पत्याहि पूछि बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ॥
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ॥

९

हम न भईं बृंदावन रेनु।
जहँ चरननि डोलत नँद नंदन, नित प्रति चारन धेनु॥
हम तैं परम धन्य ये बन, द्रुम, बालक, बच्छऽरु बेनु।
सूर सकल खेलत, हँसि बोलत, सँग मथि-पीवत फेनु॥

१०

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे कौं हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति अपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी॥

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैं हैं, खेलन चलौ सँग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका गोरी ॥

११

घरनि घर क्यौं राख्यौ दिन सात।
अति हिं कोमल भुजा तुम्हारी, चापति जसुमति मात ॥
ऊँचौ अति विस्तार भार बहु, यह कहि कहि पछितात।
वह अगाध तुव तनक तनक कर, कैसैं राख्यौ तात ॥
मुख चूमति, हरि कंठ लगावति, देखि हँसत बल भ्रात।
सूरस्याम कौं कितिक बात यह, जननी जोरति नात ॥

१२

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ।
जौ नहि लेत उठाइ गोबर्धन को बाँचत ब्रज महियाँ ॥
कोमल कर गिरि धर्यौ घोष पर सरद कमल की छहियाँ।
सूरदास प्रभु तुम दरसन सौ आनंद हैं सब कहियाँ ॥

१३

मुरली कौ मन हरि सौं मान्यौ।
हरि कौ मन मुरली सौं मिलि गयौ जैसे पय अरु पान्यो ॥
जैसैं चोर चोर सौ रातै, ठठा ठठा एकै जानि।
कुटिल कुटिल मिलि चलैं एक ह्वै, दुहुनि बनी पहिचानि ॥
ये बन बन नित धेनु चरावत, वह बनही की आहि।
सूर गढ़ी जोरी विधना की, जैसी तैसी ताहि ॥

१४

मेरे दुख कौ ओर नहीं।
षट रितु सीत उष्न बरषा मैं, ठाढ़े पाइ रही ॥
कसकी नहीं नैकुहूँ काटत, घामै राखी डारि।
आगिनि सुलाक देत नहिं मुरकी, बेह बनावत जारि ॥

तुम जानति मोहि बाँस बाँसुरिया, अगिनि छाप दै आई।
सूरस्याम ऐसैं तुम लेहु न, खिझति कहा हौ माई॥

१५

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नंद घरनि गावति हलरावति, पलना किलकत हरि खेलत॥
जो चरनारबिंद श्री-भूषन उर ते नेकु न टारति।
देखौं धौं का रसु चरनन में, मुख मेलत करि आरति॥
जा चरनारबिंद के रस को सुर नर करत बिवाद।
यह रस तो है मोको दुरलभ ताते लेत सवाद॥
उछलत सिंधु, धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाय।
सेस सहस फन डोलन लागे हरि पीवत जब पाय॥
बढ्यो वृच्छ बर, सुर अकुलाने, गगन भयो उतपात।
महाप्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥
करुना करो छाँड़ि पगु दीनो जानि सुरन मन संस।
'सूरदास' प्रभु असुर निकंदन दुष्टन के उर गंस॥

१६

मैया, मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे, ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे कर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नँद-नंदन दोना पीठि दुरायो।
डारि साँट मुसुकाइ तबहिं गहि सुतको कंठ लगायो॥
बाल बिनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप देखायो।
'सूरदास' प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो॥

१७

नाहि न रह्यो मन में ठौर ।
नंद नंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति ।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इतउत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय ।
कहा करौं तन प्रेमपूरन ? घट न सिंधु समाय ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित अति मृदु हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

१८

ऊधो, मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस ?
भईं अति सिथिल सबै, माधव बिनु, जथा देह बिनु सीस ।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तो सखा स्याम सुंदर के सकल जोग के ईस ।
'सूरजदास' रसिक की बतियां पुरवौ मन जगदीस ॥

१९

रहु रे मधुकर मधु मतवारे ।
कहा करौं निरगुन लैके हौं, जीवहिं कान्ह हमारे ॥
लोटत नीच पराग पंक में पचत न आपु सम्हारे ।
बारबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे ॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे ।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे ॥
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन जसुमति-नंद-दुलारे ।
'सूर' स्याम को सर्बसु अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उधारे ?

२०

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर, हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति, साँच, न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन भेस है कैसो, केहि रसको अभिलासी ?
पावैगो पुनि कियो आपनो जोरे, कहैगो गाँसी।
सुनत मौन है रह्यो ठग्यौ सो 'सूर' सबै मति नासी ॥

२१

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधि सुत-किरन भानु भईं भुंजैं ॥
ये, ऊधो कहियो माधव सों बिरह कहर कर मारत लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन जों गुंजैं ॥

मीरा

मीरा भक्ति काल की इतिहास प्रसिद्ध गायिका हैं। ये मेड़ता के वीर शासक राठौर राव दूदाजी की पौत्री और राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म आचार्य शुक्ल जी के अनुसार सं० १५७३ में चोकड़ी नामक गाँव में हुआ था और मृत्यु सं० १६०३ में हुई। परंतु नई खोजों के अनुसार मीरा का जन्म कुड़की नामक गाँव में स० १५५९–६० ई० के आसपास माना जाता है। इसी प्रकार उनकी मृत्यु भी सं० १६३० में द्वारका पुरी में मानी जाती है। इस नये तिथि क्रम के अनुसार मीरा का विवाह सं० १५७३ में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। कुछ ही दिनों के पश्चात् सं० १५८० के आसपास उन्हें वैधव्य का कष्ट मिला। इसके उपरांत उन्होंने जो भक्त का जीवन बिताया उसका गुण गान इतिहास में अंकित है। उसी भक्ति का शब्दमय रूप है उनका साहित्य।

मीराबाई के बनाये चार ग्रंथ कहे जाते हैं नरसीजी का मायरा, गीतगोविंद टीका, रागगोविंद, रागसोरठ के पद। पर साहित्यिक दृष्टि से जिन रचनाओं का अधिक महत्व है वे हैं मीरा के फुटकर पद। सब मिलाकर भी मीरा के नाम से पदों की संख्या अधिक नहीं है। गुजराती पदों को मिलाकर भी संभवतः पदों की संख्या चार सौ के लगभग ही पहुँचेगी। इनमें से भी अनेक पदों की प्रामाणिकता में आलोचकों को संदेह है। परतु एक बात में किसी को संदेह नहीं है कि मीरा के थोड़े से पद ही इतने समर्थ और प्रभावशाली है कि वे हिंदी, गुजराती और राजस्थानी के क्षेत्रों में अक्षय निधि माने जाते हैं।

इन पदों में माधुर्य भाव की भक्ति मिलती है। अर्थात् दांपत्य प्रेम का अलौकिक रूप लेकर मीरा गाती है। गिरिधर गोपाल उनके प्रियतम हैं। यह माधुर्यभाव लोक जीवन के लिए इतना सहज और स्वाभाविक होता है कि मीरा के समान शुद्ध हृदय वाली नारी ने भगवान् और मानव को एक ही शब्द से जीत लिया। जिस समय मीरा अपने भगवान् पति का प्रेमगीत गाती हैं भक्त मधुर भक्ति में बहने लगता है और अनुरक्त लौकिक प्रेम की धारा में। इसी अनूठे समन्वय ने मीरा को इतना लोकप्रिय बना दिया है।

मीरा की कविता में दो विशेषताएँ मननीय है। एक है वेदना और दूसरी है रहस्यभावना। मीरा की वेदना है तो आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति पर उसका चित्रण माधुर्यभाव की लोक पद्धति के द्वारा इतना स्वाभाविक हुआ है कि प्रत्येक लौकिक प्रेमी भी विह्वल हो जाता है। इसी प्रकार मीरा का रहस्य वर्णन किसी को कठिन नहीं लगता। ऐसा मालूम होता है यह नारी प्रेम की उलझन का सुलझा हुआ और निखरा हुआ प्रेम चित्र है। इस अद्भुत सफलता का एक ही कारण हो सकता है। वह है मीरा की अखंड जीवन साधना—बाहर भीतर की एकता। उनका जीवन ही गान था और गान ही उनका सच्चा जीवन था।

मीरा

मन रे परसि हरि के चरण

सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविधि ज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरण ॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीणो, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्माण्ड भेंट्यो, नख सिख सिरी धरण ॥
जिण चरण प्रभु परसि लीणो तरी गोतम घरण ।
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपि लीला करण ॥
जिण चरण गोबरधन धार्यो इन्द्र को गर्व हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ॥ १ ॥

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ।

म्हैल चढ़ि चढ़ि जोऊँ मोरी सजनी, कब आवै महाराज ॥
दादुर मोर पपइया बोलै, कोइल मधुरे साज ।
उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामिणि छोड़ी लाज ॥
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, वेग मिलो महाराज ॥ २ ॥

मने चाकर राखो जी, मने चाकर राखो जी ॥

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठि दरसण पासूँ ।
ब्रिन्द्रावन की कुंज गलिन में, तेरी लीला गासूँ ॥
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची ।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी ॥

मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल वैजन्ती माला।
बिन्द्रावन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला॥
हरे हरे नित बन्न बनाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरिया के दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी॥
जोगी आया जोग करण कूँ, तप करणे सन्यासी।
हरी भजन कूँ साधू आया बिन्द्रावन के बासी॥
मीराँ के प्रभु गहिर गँभीरा, सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दैहैं, प्रेम नदी के तीरा॥३॥

दरस विन दूखन लागे नैन।
जब के प्रभु बिछुरे तुम मोरे, कबहुँ न पायो चैन॥
सवद सुनत मेरी छतियाँ काँपैं, मीठे मीठे बैन।
बिरह कथा कासूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत ऐन॥
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासो रैन।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेंटण सुख दैन॥४॥

मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ॥
रैन परै तबही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके सँग खेलूँ, ज्यों ज्यों वाहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन विन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावे तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, वार वार बलि जाऊँ॥५॥

पग घुँघरू बाँधि मीरा नाची रे।
मैं तो अपने नारायण की, आपहि होइ गई दासी रे।
लोग कहैं मीरा भई बावरी, न्यात कहै कुल नासी रे॥

विष का प्याला राणा भेज्यो, पीवत मीरा हाँसी रे।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, सहज मिले अविनासी रे ॥ ६ ॥

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरत साँवली सूरत, नैना बने विसाल।
अधर सुधा रस मुरली राजत, उर वैजन्ती माल ॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल।
मीराँ प्रभु सन्तन सुखदाई, भगत वछल गोपाल ॥ ७ ॥

घड़ी एक नहिं आवड़े कि तुम दरसन बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय ॥
धान न भावे, नींद न आवे, विरह सतावे मोहिं।
घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरो दरद न जाणै कोय ॥
दिवस तो खाइ गँवाइगो रे, रैन गँवाई सोय।
प्राण गँवायो झूरता रे, नैन गँवायो रोय ॥
जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीत कियाँ दुख होय।
नगर ढँढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय ॥
पंथ निहारू डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे तुम मिलियां सुख होय ॥८॥

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरो दरद न जाणै कोय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय ॥
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिण जौहर होय।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विधि होय ॥
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होय।
दरद की मारी बनबन डोलूँ वैद मिला नहिं कोय ॥
मीरां की प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सँवलिया होय ॥९॥

मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसो होइ री।
आए मेरे सजना फिरि गए अँगना मैं अभागण रही सोइ री॥
फारूँगी चीर करूँ गल कंथा, रहूँगी वैरागण होइ री।
चुरियाँ फोरूँ, माँग बखेरूँ, कजरा मैं डारूँ धोइ री॥
निसि बासर मोहि बिरह सतावैं, कल न परत पल मोइ री।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, मिलि बिछरो मत कोइ री॥१०॥

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाय परूँ मैं चेरी तेरी हौं।
प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा॥
अगर चँदण की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा॥
मीरां कहै प्रभु गिरिधर नागर, जोत में जोत मिला जा॥११॥

भज मन चरण कँवल अविनासी।
जे ताइ दीसे धरण गगन बिच, ते ताइ सब उठि जासी॥
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिए करवत कासी।
इण देही का गरब न करणा, माटी में मिल जासी॥
ये संसार चहर की बाजी, साँझ पड्या उठ जासी॥१२॥

नहिं ऐसो जनम बारम्बार।
का जानूँ कछु पुण्य प्रगटे मानुसा अवतार॥
बढ़त छिन छिन, घटत पल पल जात न लागे बार।
बिरछ के ज्यूँ पात टूटे, बहुरि न लागे डार॥
भौसागर अति जोर कहिए, अनँत ऊँडी धार।
राम नाम का बाँध बेड़ा, उतर परले पार॥१३॥

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पन्थ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो॥
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देख्याँ कल नाहिं परत जिय ऐसी ठानी हो॥

अंग अंग व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, वह पीर न जानी हो॥
ज्यूँ चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल विरहिणी, सुध बुध विसरानी हो॥१४॥

माई री मै तो लियो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छानै, कोई कहै चोड़े, लियो री बजन्ता ढोल॥
कोई कहै मुहँघो, कोई कहै सुँहघो, लियो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो, लियो री आँखी खोल॥
याही कूँ सब लोग जानत है, लियो री आँखी खोल।
मीराँ कूँ प्रभु दरसन दीज्यौ, पूरब जनम को कोल॥१५॥

गोस्वामी तुलसीदासजी

आचार्य (रामचन्द्र) शुक्ल के शब्दों में "गोस्वामीजी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। हिन्दी के भक्तिकाल को स्वर्णयुग सिद्ध करने का श्रेय इन्हीं के साहित्य को मिला। भारत भर में और विशेषकर हिंदी क्षेत्र में भक्तिकाल साहित्यिक प्रवृत्तियों की अभिनवता और साहित्य रूपों की स्वस्थता के लिये प्रसिद्ध है। तुलसी का साहित्य उस महान् युग का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। संवत् १६८० तुलसी के शरीर त्याग का काल है और स० १६३१ में उन्होंने मानस का लिखना आरंभ किया था। इस प्रकार उनका कार्यकाल भक्तिकाल की चार शताब्दियों में अंतिम और पूर्ण विकसित शताब्दी है। आध्यात्मिक दृष्टि से भक्ति की प्रवृत्तियाँ लोक और साहित्य पर अधिकार स्थिर कर चुकी थी। राजनीतिक दृष्टि से विदेशी शासन विजयी हो चुका था। सांस्कृतिक दृष्टि से संघर्ष घोरतम रूप में था। लोक जागरण की दृष्टि से कवि और संत देशी भाषा, लोक गीत, ग्राम सौंदर्य, लोक परंपरा और लोक प्रचलित कथाओं का महत्व स्थिर कर चुके थे। पहले से काव्य भाषा, रचना शैली तथा काव्य रूपों की परपरा चली आ रही थी। भक्त कवियों ने उन्हें नव-जीवन प्रदान किया। इस विकास काल में कवि तुलसी ने देखा कि काव्यभाषा के दो रूप प्रचलित हैं—एक व्रज और दूसरी अवधी। एक की प्राण प्रतिष्ठा सूर कर चुके थे और दूसरे की जायसी। भाषा पद्य का स्वरूप देखें तो उस समय पाँच मुख्य रचना शैलियाँ मिलती हैं। वीर काव्य की छप्पय पद्धति, सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि भाटों

की कवित्त सवैया पद्धति, अपभ्रंश परंपरा की दोहा पद्धति और ईश्वरदास जायसी आदि की दोहे चौपाईवाली प्रबंध पद्धति, इसके अतिरिक्त बरवै, सोहर आदि के लोक छंद भी मँजी शैलियों का रूप पा चुके थे। काव्य रूप की दृष्टि से भी गीत पद, पाठ्यमुक्तक और कथा काव्य सभी का विकास हो चुका था।

तुलसी की प्रतिभा ने लोक जीवन का एक ध्रुव बिन्दु स्थिर कर लिया कि इस युग का मूल्यांकन मुझे अपने ठोस अनुभव से करना है। उनका निजी अनुभव था कि प्रत्येक मानव में महत्ता है तो भी वह दुःखी है। लोक जीवन की छिपी शक्ति यदि जाग जाय तो वह सब दुःखों को भगा सकती है। इसीलिए उनके साहित्य का युग व्यापीसंदेश यह था—

अस प्रभु अछत हृदय अविकारी।
सकल जीव जग होहिं दुःखारी॥
नाम निरूपण नाम जतन तें।
सो प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

इस स्थिर अनुभव और विश्वास को लेकर तुलसी ने साहित्य सेवा की। इसीलिए उनका साहित्य विजय साहित्य बन गया। उसने भारत को सांस्कृतिक पराजय से बचा लिया और उस पराधीनता के युग में विजय-स्तंभ बन गया।

तुलसी के साहित्य का दावा है कि प्रत्येक दुःखी मानव शान्ति पा सकता है। उसे अपने भीतर छिपी बड़ी शक्ति को पहचानना चाहिए। उस शक्ति को पहचानने का साधन है राम नाम। इसी नाम का निरूपण और यत्न मय जीवन तुलसी साहित्य का प्रेरक बनता है इसी लिए यह महाकवि न कभी कला का प्रदर्शन करता है, न उपदेश के लिए उपदेश देता है, न व्यर्थ की उद्भावना अथवा पदयोजना करता है और सबसे बढ़कर वह यह कभी नहीं भूलता कि सेवक कवि की मर्यादा क्या है।

इस प्रकार मूल्यांकन के अनुभव और निर्दोष सेवाभाव के कारण उन्हें सभी दृष्टियों से सफलता मिली है। ब्रज और अवधी पर उनका समान अधिकार है। आलोचकों की दृष्टि में ब्रज का जो माधुर्य सूरसागर में है वही और भी सुसंस्कृत रूप में तुलसी की गीतावली और कृष्ण गीतावली में है। अवधी की जो रमणीयता जायसी के पदमावत काव्य में है वही तुलसी के बरवै, पार्वती मंगल आदि में ठेठ रूप में और मानस में अधिक नागरिक रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार शैलियों का भी सफल प्रयोग तुलसी साहित्य में मिलता है। छप्पय पद्धति और कवित्त सवैय्या पद्धति दोनों के सुन्दर उदाहरण कवितावली में मिलते हैं। विनय पत्रिका और गीतावली में गीतपद्धति की रमणीय रचनाएँ हैं। दोहावली पढ़ने से समझदार को दोहा की समर्थ कला का परिचय मिल जाता है। और दोहा चौपाई की पद्धति में मानस से बढ़कर दूसरा काव्य लिखा ही नहीं गया।

यदि आगे बढ़कर ग्राम साहित्य देखें तो तुलसी के बरवै सुरुचि के दो छोरों का समन्वय कर देते हैं। रहीम ने गांव के बरवै को राज दरबार का शृंगार पूर्ण जीवन देकर यश प्राप्त किया था पर तुलसी ने उसमें लोक सौन्दर्य के साथ ही भक्ति जीवन की पवित्रता भी भर दी। इससे वह घर और मन्दिर सर्वत्र प्रचार पा गया।

काव्य रूप की सफलता गेय और पाठ्य रूपों के संबंध में निर्विवाद मानी जाती है। पर रामचरितमानस के महाकाव्यत्व के बारे में मत भेद है। एक आलोचक कहता है कि मानस सर्वोत्तम महाकाव्य है। दूसरा कहता है कि मानस महाकाव्य है ही नहीं। वह पुराण काव्य है। इस मत भेद के दो ही कारण अभीतक ध्यान में आ सके हैं। एक तो मानस की यथारुचि व्याख्या और दूसरा महाकाव्य की कसौटियों की भिन्नता। अधिक आलोचकों के अनुसार मानस भक्ति प्रधान काव्य है और जिस कथा सिद्धि की महाकाव्य में आवश्यकता

है वह उसमें है। आचार्य शुक्लजी के अनुसार मानस में महाकाव्य के सभी गुण हैं। उसमें कथाकाव्य के सभी अवयवों का उचित समीकरण है। कथाकाव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, भावव्यंजना और संवाद ये चार अवयव होते हैं। इनके समीकरण से मानस में समन्वित प्रभाव मिलता है। दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। मानस में ऐसे मर्मस्थलों को पढ़ने से कवि की भावुकता का पता चलता है। मानस की तीसरी विशेषता है प्रसंगानुकूल भाषा और शैली। चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।

इसके अतिरिक्त मानस में भूमिका और उपसंहार महाकाव्य की महत्ता के अनुरूप गंभीर और साहित्यिक हैं। महाकाव्य के संदेश और सिद्धान्त दोनों का यहाँ परिचय मिल जाता है।

अब यदि तुलसी की वर्णित वस्तु का विस्तार देखें तो वे युग जीवन के सच्चे प्रतिनिधि मालूम होते हैं। दूसरे कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर काव्योत्कर्ष प्राप्त करते हैं जैसे उत्साह, भक्ति, दांपत्य प्रणय आदि। पर तुलसी की कविता की पहुँच मनुष्य के सभी भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर आध्यात्मिक प्रेम की उच्चता और दूसरी ओर लोक जीवन का पारिवारिक और सामाजिक समतल का चित्र हम एक साथ देखते हैं। तुलसी की भक्ति भावना में एक अद्भुत विशेषता है। वे लोकपक्ष की उपेक्षा कभी नहीं करते। वे यह तनु और सियाराममय जग का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। जो नर समाज का महत्त्व नहीं समझता वह तुलसी के अनुसार कृत निंदक और मंदमति है। और सबसे बड़ी स्थापना तुलसी की है वह राम राज्य जो प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक राष्ट्र और पूरे विश्व के लिए शान्ति और सुख का भविष्य चित्र है। तुलसी का रामराज्य साधना का एक सामाजिक चित्र है जो युग युग से सेवा की प्रेरणा देता रहा है।

तुलसी की भक्ति में ज्ञान, योग और धर्म का समन्वय तो है ही। उसमें दो अनूठी विशेषताएँ हैं। एक तो वह सरल भाव, सरल वचन और सरल कर्म का जीवन है और दूसरे इस भक्ति के सद्भाव ने स्वय भक्ति के भीतर भी अतिरेक और अनियम को रोका है जैसे शैव और वैष्णव का विरोध आदि। इस प्रकार तुलसी के काव्य में आध्यात्मिकता और युगधर्म का सहज मेल हो गया है।

इस प्रकार का युग रक्षक साहित्य अनेक ग्रन्थों के रूप में हमें मिला है। बारह ग्रन्थ उनमें मुख्य माने जाते हैं। दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामचरितमानस और विनय पत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं और रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपिनी, कृष्ण गीतावली और रामाज्ञा प्रश्न छोटे।

उपसंहार में तुलसी के संबंध में एक ही वाक्य कहा जा सकता है कि उनका साहित्य वस्तु, शैली और भाव तीनों के विचार से न केवल हिन्दी और भारत की निधि है प्रत्युत वह विश्व के लिए एक विशिष्ट देन है।

तुलसीदास

रामराज्य

राम राज बैठे अयलोका । हरषित भए गए सब सोका ॥
बयर न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥

दो०—बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग ॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहि काहुहि ब्यापा ॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधरम निरत श्रुति नीती ॥
चारहुँ चरन धरम जग माँहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी ॥
अलप मृत्यु नहि कवनिउँ पीरा । सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा ॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धरमरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी । सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥

दो०—राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।
काल करम सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ॥

भूमि सप्त सागर मेखला । एक भूप रघुपति कोसला ॥
भुवन अनेक रोम प्रति जासू । येह प्रभुता कछु बहुत न तासू ॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी । यह बरनत हीनता घनेरी ॥
सो महिमा खगेस जिन्ह जानी । फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी ॥
सोउ जाने कर फल येह लीला । कहहिं महा मुनिवर दमसीला ॥
राम राज कर सुख संपदा । बरनि न सकै फनीस सारदा ॥

सब उदार सब पर उपकारी । बिप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि व्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज ॥

फूलहिं फरहि सदा तरु कानन । रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई । सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई ॥
कूजहि खग मृग नाना बृंदा । अभय चरहि बन करहिं अनंदा ॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा । गुंजत अलि लै चलि मकरंदा ॥
लता बिटप माँगे मधु चवहीं । मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी । त्रेता भै कृतयुग कै करनी ॥
प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी । जगदातमा भूप जग जानी ॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी । सीतल अमल स्वादु सुखकारी ॥
सागर निज मरजादा रहहीं । डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं ॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा । अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा ॥

दो०—बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज ।
माँगे बारिद देहिं जल रामचद्र के राज ॥

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे । दान अनेक द्विजन्ह कहुँ दीन्हे ॥
श्रुति पथ पालक धरम धुरंधर । गुनातीत अरु भोग पुरंदर ॥
पति अनुकूल सदा रह सीता । सोभा खानि सुसील बिनीता ॥
जानत कृपासिंधु प्रभुताई । सेवति चरन कमल मनु लाई ।
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी ॥
निज कर गृह परिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ । सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं । सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं ॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता । जगदंबा संततमनिंदिता ॥

दो०—जासु कृपा कटाछ सुर चहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति स्वभावहि खोइ॥

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई॥
प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं॥
राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहि नीती॥
हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहही। श्री रघुबीर चरन रति चहहीं॥
दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लव कुस बेद पुरानन्हि गाए॥
दोउ बिजयी बिनयी गुन मन्दिर। हरि प्रतिबिंब मनहु अति सुंदर॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥

दो०—ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानन्द घन कर नर चरित उदार॥

प्रात काल सरजू करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥
बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहि॥
अनुजन्ह संजुत भोजनु करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहिं॥
भरत सत्रुहन दोनौं भाई। सहित पवन सुत उपबन जाईं॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥
सबके गृह गृह होहिं पुराना। राम चरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥

दो०—अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेस नहि कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहि। देखि नगर बिराग बिसरावहि॥

जातरूप मनि रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुन्दर। रचे कंगूरा रंग रंग बर॥
नव ग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मनु नाचा॥
धवल धाम ऊपर नभ चुम्बत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥

छंद०—मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुदर मनोहर मदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

दो०—चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम रचित जे निरख मुनि ते मन लेहि चोराइ॥

सुमन बाटिका सबहिं लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसत की नाई॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिविध सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥
मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हिं पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन पालक॥
राज दुआर सकल विधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥

छंद—बाजार रुचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमा निवास तहँ की संपदा किमि गाइए॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुन्दर नारि नर सिसु जरठ जे॥

दो०—उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर ।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर ॥

दूरि फराक रुचिर सो घाटा । जहँ जल पिअहि बाजि गज ठाटा ॥
पनिघट परम मनोहर नाना । तहाँ न पुरुष करहिं असनाना ॥
राजघाट सब विधि सुंदर बर । मज्जहि तहाँ बरन चारिउ नर ॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर । चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर ॥
कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी । बसहिं ज्ञान रत मुनि संन्यासी ॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई । वृंद वृंद बहु मुनिन्ह लगाई ॥
पुर सोभा कछु बरनि न जाई । बाहिर नगर परम रुचिराई ॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा । बन उपबन बापिका तड़ागा ॥

छंद—बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं ॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं ।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हकारहीं ॥

दो०—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ ॥

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं । बैठि परसपर इहै सिखावहिं ॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि । सोभा सील रूप गुन धामहि ॥
जलज बिलोचन स्यामल गातहि । पलक नयन इव सेवक त्रातहि ॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि । संत कंज बन रबि रनधीरहि ॥
काल कराल ब्याल खगराजहि । नमत राम अकाम ममता जहि ॥
लोभ मोह मृग जूथ किरातहि । मनसिज करि हरि जन सुख दातहि ॥
संसय सोक निबिड़ तम भानुहि । दनुज गहन घन दहन कृसानुहि ॥
जनकसुता समेत रघुबीरहि । कस न भजहु भंजन भव भीरहि ॥

बहु बासना- मसक हिम रासिहि । सदा एक रस अज अविनासिहि ।।
मुनि रंजन भंजन महि भारहि । तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि ।।

दो०—एहि विधि नगर नारि नर, करहिं राम गुन गान ।
सानुकूल सब पर रहहिं, संतत कृपानिधान ।।

जब ते राम प्रताप खगेसा । उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा ।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका । बहुतेन्ह सुख बहुतन्ह मन सोका ।।
जिन्हहिं सोक ते कहौं बखानी । प्रथम अविद्या निसा नसानी ।।
अघ उलूक जह तहाँ लुकाने । काम क्रोध कैरव सकुचाने ।।
त्रिविध कर्म गुन काल सुभाऊ । ए चकोर सुख लहहिं न काऊ ।।
मत्सर मान मोह मद चोरा । इन्हकर हुनर न कवनिहु ओरा ।।
धरम तड़ाग ग्यान विग्याना । ए पकज बिकसे बिधि नाना ।।
सुख संतोष बिराग विवेका । विगत सोक ए कोक अनेका ।।

दो०—यह प्रताप रबि जाके, उर जब करै प्रकास ।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास ।।

विनय पत्रिका

१

जौ पै हरि जन के औगुन गहते ।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों, कत हठि बैर बिसहते ॥१॥
जौ जप जाग जोग ब्रत बरजित, केवल प्रेम न चहते ।
तौ कत सुर मुनिबर बिहाय, ब्रज, गोप गेह बसि रहते ॥२॥
जौ जहँ तहँ प्रन राखि भगत को, भजन प्रभाउ न कहते ।
तौ कलि कठिन करम-मारग जड़, हम केहि भाँति निबहते ॥३॥
जौ सुत हित लिये नाम अजामिल, के अघ अमित न दहते ।
तौ जमभट साँसति-हर हमसे वृषभ, खोजि खोजि नहते ॥४॥
जो जग बिदित पतित पावन, अति बाँकुर बिरद न बहते ।
तौ बहु कलप कुटिल तुलसी से, सपनेहुँ सुगति न लहते ॥५॥

२

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति ।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस, होत सदा यह रीति ॥१॥
जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करम की डोरी ।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म, जसुमति हठि, बाँध्यो, सकत न छोरी ॥२॥
जाकी मायाबस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाय ग्वालजुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥३॥
बिस्वभर, श्रीपति, त्रिभुवनपति, वेद बिदित यह लीख ।
बलि सों कछु न चली प्रभुता, बरु है द्विज माँगी भीख ॥४॥

जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि, सोइ जनमे दस बार ॥५॥
जोग बिराग, ध्यान, जप तप करि, जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर भालु चपल पसु पामर, नाथ तहाँ रति मानी ॥६॥
लोकपाल, जम, काल, पवन, रवि, ससि सब आग्याकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के, द्वार बेंत कर धारी ॥७॥

३

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे। १॥
कौने देव बराइ बिरुद हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥२॥
देव दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे। ३॥

४

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक! धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥१॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक संसय मेट्यो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेंट्यो ॥२॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निजधाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास हित, कपि-कुल-पति सुग्रीव कियो ॥३॥
आयो सरन सभीत बिभीषन, जेहि कर कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सरचाप असुर हति, अभयदान देवन्ह दीन्हों ॥४॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की, मेटति पाप, ताप, माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया ॥५॥

५

जानत प्रीतिरीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई ॥१॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु ते अधिक गीध पर, ममता गुन गरुआई ॥२॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि, प्रान पिया बिसराई।
रन-पर्‌यो बंधु, बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥३॥
घर गुरुगृह, प्रिय सदन, सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनिकी, रुचि माधुरी न पाई ॥४॥
सहज सरूप कथा मुनि बरनत, रहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बंधु बड़ाई ॥५॥
प्रेम-कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।
'तेरो रिनी' हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥६॥
तुलसी राम सनेह सील लखि, जो न भगति उर आई।
तो तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ॥ ७॥

६

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि, सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ॥१॥
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुबर के ॥२॥
ज्यों नासा सुगंधरस-बस, रसना षटरस-रति मानी।
राम-प्रसाद-माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी ॥३॥
चंदन-चंदबदनि-भूषन, पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥४॥

ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु बचन हिये हूँ।
त्यों न राम सुकृतग्य, जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूं ॥५॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम-सीय आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे ॥६॥
सकल अंग पद-विमुख नाथ, मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभुमूरति कृपामई है ॥७॥

७

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है, स्रमफलनि फरो सो ॥१॥
तप, तीरथ, उपवास, दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो करम-फल, भरि भरि बेद परो सो ॥२॥
आगम-विधि जप जाग करत नर, सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग वियोग धरो सो ॥३॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो सो ॥४॥
बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राजडगरो सो ॥५॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो ॥६॥

कवितावली

१

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को, ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन, नयन सु खंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से बिकसे॥ १॥

२

पग नूपुर, औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये।
अरविंद सो आनन, रूप मरंद, अनंदित लोचन भृंग पिये।
मन मो न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिये॥२॥

३

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावत गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद, जुवा, जुरि, बिप्र पढाहीं॥
राम को रूप निहारति, जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥ ३॥

४

आरत पालु कृपालु जो राम, जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रताप महा महिमा, अकरे किये खोटेउ, छोटेउ बाढ़े॥
सेवक एक तें एक अनेक भए, तुलसी तिहुँ तापन डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहन तें परमेस्वर काढ़े॥ ४॥

५

बालक बोलि दिए बलि काल को, कायर कोटि कुचाल चलाई।
पापी है बाप बड़े परिताप तें, आपनी ओर ते खोरि न लाई॥
भूरि दई विष-भूरि भई, प्रहलाद सुधाई सुधा की मलाई।
राम कृपा तुलसी जन को, जग होत भले कों भलाई भलाई॥ ५॥

६

बारि तिहारो निहारि मुरारि, भए परसे पद पाप लहौंगो।
ईस है सीस धरौं पै डरौं, प्रभु की समता बड दोष दुहौंगो॥
बरु बारहि बार सरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी! बिनवौं करजोरि, बहोरि न खोरि लगै सो कहौंगो॥ ६॥

दोहावली

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥१॥

जौं घन बरसै समै-सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि, तउ तिहारी आस ॥२॥

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ॥३॥

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि-रंग ॥४॥

चढ़त न चातक चित, प्रिय पयोद के दोख।
तुलसी, प्रेम-पयोधि की, ताते नाप न जोख ॥५॥

बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक ॥६॥

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ॥७॥

पवि, पाहन, दामिनि, गरज, झरि, झकोर, खरि, खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहि रीझि ॥८॥

मान राखिबो, माँगिबो, पिय सों नित नित नेहु।
तुलसी, तीनिउँ तब फबै, जौं चातक मत लेहु ॥९॥

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
वक्र बुन्द लखि स्वातिहू, निदरी निबाहत नेम ॥१०॥

तुलसी, चातक माँगनो एक, एक घन दानि।
देत जो भू-भाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि ॥११॥

तीनि लोक तिहुँकाल जस, चातकही के माथ।
तुलसी, जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ ॥१२॥

राम नाम को अंक है, सब साधन है सून।
अंक गए कछु हाथ नहि, अंक रहे दसगून ॥१३॥

'मोर मोर' सब कहँ कहसि तू को ! कहि निज नाम।
कै चुप साधहि सुनि समुझि, कै तुलसी जपु राम ॥१४॥

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहिं, राम नाम जपु नीच ॥१५॥

निज दूषनु, गुन राम के, समुझे तुलसीदास।
होय भलो कलिकाल हू, उभय लोक अनयास ॥१६॥

कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू रामप्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम, सो कीबे तुलसी तोहि ॥१७॥

तुलसी रामहु ते अधिक, रामभक्त जिय जान।
रिनिया राजा राम भे, धनिक भये हनुमान ॥१८॥

वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजनु न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥१९॥

कहा विभीषन लै मिलो, कहा बिगार्यो बालि ?
तुलसी प्रभु सरनागतिहिं, सब दिन आये पालि ॥२०॥

खेती, बनि, विद्या, बनिज, सेवा, सिलिपि सुकाज।
तुलसी सुरतरु सरिस सब, सुफल राम के राज ॥२१॥

खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय ! तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि, कै विमल बिबेक बिराग ॥२२॥

का नहि पावक जरि सकै, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥२३॥

दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसंग ॥२४।

खलप्रबोध, जगसोध, मन को निरोध, कुल सोध।
करहिं ते फोकट पचि मरहिं सपनेहुँ सुख न सुबोध ॥२५।

बरवै

(बालकांड)

केसमुकुत सखि, मरकतमनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥ १ ॥
सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाई।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥ २ ॥
चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ ॥ ३ ॥
सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत ॥ ४ ॥
साधु सुसील सुमति सुचि सरल सुभाव।
राम नीतिरत, काम कहा यह पाव ? ॥ ५ ॥
राजभवन सुख बिलसत सिय संग राम।
बिपिन चले तजि राज, सुविधि बड़ बाम ॥ ६ ॥
तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगानांग करि नितहिं नचाइहि नाच ॥ ७ ॥
सजल कठौता कर गहि कहत निषाद।
चढहु नाव पग धोइ करहु जनि बाद ॥ ८ ॥
कमल कंटकित सजनी कोमल पाइ।
निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ ॥ ९ ॥
हेमलता सिय मूरति मृदु मुसुकाइ।
हेम हरिन कहँ दीन्हेउ प्रभुहि देखाइ ॥१०॥

(सुन्दर कांड)

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥११॥
सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुल गुरु जानि ॥१२॥

(उत्तर कांड)

स्वारथ परमारथ हित एक उपाय।
सीय राम पद तुलसी प्रेम बढ़ाय ॥१३॥
जनम जनम जहँ तहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु ॥१४॥

बिहारी की कविता

हिन्दी के समर्थ आलोचकों का कहना है कि 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है।' मुक्तक में कोई एक दृश्य अथवा अनुभव इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाय। इसकी सीमा छोटी और व्यापार बड़ा होता है। इसीलिए प्रभावपूर्ण मुक्तक लिखने के लिए अधिक से अधिक अनुभूति और विदग्ध कला की आवश्यकता होती है। "जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक रचना में सफल होगा"। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान है।

संक्षेप में विश्लेषण करने पर वस्तु, भाव और शैली सभी के विचार से बिहारी की कविता बहुत ऊँची कोटि की है। उस युग की लोकरुचि के अनुसार बिहारी ने सौंदर्य, नागरिकता, नीति, उत्साह आदि को ही अपना वर्ण्य विषय बनाया है पर उसका निर्वाह इतनी पूर्णता के साथ किया है कि सहृदय पढ़कर अथवा सुनकर तन्मय हो जाते हैं। वे विदग्ध गोष्ठी का पुराना निर्णय आज भी दुहराने लगते हैं कि बिहारी का एक एक दोहा सैकड़ों प्रबन्धों का आनन्द देता है।

वस्तु की दृष्टि से बिहारी की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि उन्होंने लक्षण ग्रन्थ के रूप में अपनी सतसई' नहीं लिखी है तो भी आचार्यों ने उन्हें रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि माना है। उनके सब शृंगारी दोहे नखशिख, नायिका भेद, षट्ऋतु आदि के अंतर्गत आ जाते हैं। जिन लोगों ने लक्षणों को ध्यान में रखकर लक्ष्य तयार किये थे वे जो काम नहीं कर सके वही बिहारी से सहज ही में हो गया।

क्योंकि बिहारी की कविता में वस्तु और कला दोनों का मणिकांचन संयोग है।

भाव और रस के क्षेत्र में बिहारी ने पूर्ण निपुणता और सहृदयता का परिचय दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना' कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। भाव व्यजना या रस व्यंजना के अतिरिक्त वस्तु व्यजना भी बिहारी की सफल हुई है। शृंगार के संचारी भावों की व्यजना भी ऐसी मर्म स्पर्शिनी होती है कि अनेक दोहे चिरस्मरणीय बन गए हैं। उदाहरण के लिए—

सघनकुज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै ·· ········ ·· ।

शैली की दृष्टि से बिहारी सर्व सम्मति से आदर्श कवि माने जाते हैं। एक समर्थ आलोचक के शब्दों में कहें तो बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पायी जाती है। अलंकार की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। उदाहरण के लिए—दृगटूटत ·········· ।

इनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता है छन्द और कला का परिष्कार। दोहा हिन्दी का एक ऐतिहासिक काव्य रूप है। इसने प्रबन्ध और मुक्तक, अवधी और ब्रज सभी के क्षेत्रों में एक सी सफलता प्राप्त की है। इसका गुण माना जाता है गागर में सागर भरना। विशुद्ध काव्य और सूक्ति साहित्य दोनों में दोहा की कला का पूरा मान होता है। इस कला का सामर्थ्य और पूर्ण वैभव देखने के लिए यदि एक ही कवि चुनना अभीष्ट होता है तो बिहारी का नाम लिया जाता है। कहा जाता है—

✓ सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं वेधैं सकल सरीर॥

विहारी का परिचय

विहारी की इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है उनका एक ग्रन्थ 'विहारी सतसई'। शृंगार रस के ग्रन्थों में जितना मान इसका हुआ उतना और किसीका नहीं। इसकी पचासों टीकाएँ लिखी गईं। उनमें ५-६ प्रसिद्ध हैं। और सबसे अधिक प्रसिद्ध है जगन्नाथदास रत्नाकर की टीका—विहारी रत्नाकर। संस्कृत, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। इसकी मीमांसा भी बहुत हुई। एक शब्द में यह ग्रन्थ लोकप्रिय ही नहीं सर्वप्रिय है।

ऐसे ऐतिहासिक महत्त्व वाले ग्रन्थ के रचयिता का पूरा नाम था विहारीलाल। वे माथुर चौबे थे। उनका जन्म ग्वालियर में लगभग १६५२ में हुआ था। ये जयपूर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि विहारी सामान्य दरबारी कवि न थे। उनकी कविता में उद्बोधन की शक्ति थी। इसीलिए उनका अपने ही युग में बहुत मान बढ़ गया था। ('नहि पराग······वाले दाहे का' ऐतिह्य लोक प्रसिद्ध है।)

बिहारी

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं, स्यामु हरित दुति होइ ॥१॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरदु बारक बारनु तारि ॥२॥
कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु।
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी मैं कौ लौनु ॥३॥
अजौं तर्‌यौना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कै संग ॥४॥
तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी समान ॥५॥
पिय, तिय सौं हँसि कै कह्यौं, लखैं दिठौना दीन।
चंदमुखी, मुखचंदु तैं भलौ चंद समु कीन ॥६॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि ॥७॥
बंधु भये का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ ॥८॥
अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ौ उज्यारौ गेह ॥९॥
कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जग नाइक, जग बाइ ॥१०॥
बंधु बासिनु कौ उचित धनु, जो धन रुचित न कोइ।
सुचित न आयौ सुचितई, कहौ कहाँ तें होइ ॥११॥

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥१२॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाँचै वृथा, साँचै राँचै रामु ॥१३॥
कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसो आइकै, गीधे गीधहि तारि ॥१४॥
नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही ते बिध्यौ, आगे कौन हवाल ॥१५॥
बड़े न हूजे गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सो कनकु, गहनो गढ्यो न जाइ ॥१६॥
कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाइ।
उहि खाए बौराइ नर, इहि पाए बौराइ ॥१७॥
बढ़त बढ़त सम्पति सलिलु, मन सरोज बढ़ि जाइ।
घटत घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥१८॥
मीत न नीति गलीतु ह्वै जो धरिये धनु जोरि।
खाए खरचे जो जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥१९॥
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ॥२०॥
भूषन भारु सँभारिहै, क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धरि परै, सोभा ही के भार ॥२१॥
को कहि सकै बड़ेन सों, लखें बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारनु वे फूल ॥२२॥
इही आस अटक्यो रहतु, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं फेरि बसन्त रितु, इन डारनु वे फूल ॥२३॥

———

पद्माकर भट्ट

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "रीति काल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आता है। ऐसा सर्व प्रिय कवि इस काल के भीतर विहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्व प्रियता का एक मात्र कारण है।" इनकी मुख्य रचनाएँ पांच हैं। हिम्मत बहादुर विरदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोध पचासा और गंगालहरी।

पद्माकर का जन्म सं० १८१० में बाँदे में हुआ और शरीरपात कानपुर में गंगा तट पर सं० १८९० में। इस प्रकार रीतिकाल की अन्तिम शताब्दी में पद्माकर का जीवन बीतने से वे रीति काल के अन्तिम कवि हैं पर साथ ही वे इस कलावादी परंपरा के परमोत्कृष्ट और जीवन्त कवि हैं।

इनकी कविता की दो विशेषताएँ आधुनिक आलोचक का विशेष ध्यान आकृष्ट करती हैं। पहली विशेषता है कला और जीवन का दुर्लभ मेल। इनकी कविता में उच्च कोटि की कला होने पर वीर रस, शांतरस तथा लोक जीवन के जो चित्र हैं उनमें सच्चा अनुभव स्पष्ट झलकता रहता है। इन्होंने जगद्विनोद में जो आचार्यत्व किया है वह केवल रूढ़ि का पालन नहीं है उसमें आचार्य का अनुभव छिपा है।

दूसरी विशेषता है इनकी ऐतिहासिक वृत्ति। इनके ग्रन्थं में युग की वृतियों का ही नहीं, व्यक्तियों का भी इतिहास है। इनके पांचों ग्रन्थों से परिचय करने से पाठक स्वयं कवि के जीवन चरित का परिचय पा जाता है। संवत् १८४९ में कवि हिम्मत बहादुर के यहां गए। इनके

नाम पर ही 'विरदावली' की रचना हुई। महाराज जगत् सिंह के समय में बहुत काल तक ये जयपूर में थे। इन्हीं के नाम पर जगद्विनोद बना है। प्रबोध पचासा और गंगालहरी तो उनके गंगा तट वाले शान्त जीवन की रचनाएँ हैं। उस युग का क्या किसी भी युग का सच्चा पुरुष तीन ही वृत्तियों में रम सकता है वीरता, विद्या विलास और आध्यात्मिक ज्ञान। इन्हीं तीनों को पद्माकर की वाणी ने अपना क्षेत्र चुना यह उनके जीवन और कवि कर्म दोनों की सफलता और व्यापकता का प्रमाण है।

पद्माकर

गंगालहरी

बुई ती विरंचि भई बामन पगन पर,
फैली फैली फिरी ईससीस पै सुगथ की।
आइ कै जहान जन्हु जंघा लपटाई फेरि,
दीनन के हेत दौरि कीन्ही तीन पथ की ॥
कहै 'पदमाकर' सुमहिमा कहाँ लौं कहौं,
गंगा नाम पायो सोही सबके अरथ की।
चारयो फल फलो फूली गहगही बहबही,
लहलही कीरति लता है भगीरथ की ॥ १ ॥

करम को मूल तन, तन-मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँद ही धरिबो।
कहै 'पदमाकर' त्यों आनँद को मूल राज,
राज मूल केवल प्रजा को भौन भरिबो ॥
प्रजा मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो।
जज्ञन को मूल धन, धन मूल धर्म, अरु,
धर्म मूल गंगाजल बिंदु पान करिबो ॥ २ ॥

जान्यो जिन है न जज्ञ जोग, जप जागरन,
जन्महि बितायो जग जोबन जोइ कै।
कहै 'पदमाकर' सुदेवन की सेवन तें,
दूरि रहैं पूरि मति बेदरद होइ कै ॥

कुटिल कुराही कूर कलही कलंकी, कलि-
काल की कथान में रहे जे मति खोइ कै।
तेऊ बिस्नु-अँगन में बैठे सुर संगन में,
गंग की तरगन में अंगन को धोइ कै ॥ ३ ॥

जमपुर द्वारे लगे तिन में केवारे, कोऊ
हैं न रखवारे ऐसे बन के उजारे हैं।
कहै 'पदमाकर' तिहारे प्रन धारे तेउ,
करि अघ भारे सुरलोक को सिधारे हैं ॥
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति,
पतित कतारे भवसिंधु तें उतारे हैं।
काहू ने न तारे तिन्हें गंगा तुम तारे, और,
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं ॥ ४ ॥

काम अरु क्रोध लोभ मोह मद मातसर्य,
इनकी जँजीरन को जारिहै पै जारिहै।
कहै 'पदमाकर' पसारि पुन्य चारो ओर,
चारो फल धामन मे धारिहै पै धारिहै ॥
छोभ छल छंदन को बाढ़े पाप वृंदन को,
फिकिरि के फंदन को फारिहै पै फारिहै।
एकै बार बारि जिन गंगा को पियो है,
तिन्हें तारनि तरंगिनी या तारिहै पै तारिहै। ५ ॥

योग हू मैं भोग में वियोग में संयोग हू में,
रोग हू में रस में न नेको बिसराइये।
कहै 'पदमाकर' पुरी में पुन्य, रौरव में,
फैलन में फैल फैल गैलन में गाइये ॥

बैरिन में बंधु में बिथा में बंसबालन में,
विषय में रन हू में जहाँ जहाँ जाइये।
सोच हू में सुख में सुरी में साहिबी में कहूँ,
गंगा गंगा गंगा कहि जनम बिताइये ॥ ६ ॥

बालकृष्ण

देखु 'पद्माकर' गोविंद की अमित छबि,
संकर समेत बिधि आनंद सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि,
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है॥
पटकत पाँव होत पैजनी झुनुक रंच,
नेक नेक नैनन तें नीर कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनिक पय पीवे काज,
तीनि लोक ठाकुर सा ठुनुकत ठाढ़ो है॥ ७ ॥

प्रबोध

देव नर किन्नर कितेक गुन गावत, पै
पावत न पार जा अनंत गुनपूरे को।
कहे 'पदमाकर' सुगाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचक जरूरे को॥
चंद की छटान जुत पन्नग फटान जुत,
मुकुट बिराजै जटाजूटन के जूरे को।
देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को॥ ८ ॥

राम को नाम जपो निसिबासर, राम ही को इक आसरो भारो।
भूलो न भूल की भौरन में 'पदमाकर' चाहि चितौनि को चारो॥

ज्यों जल में जलजात के पात, रहै जग में त्यो जहान तें न्यारो।
आपनेसो सुख औ दुख दौरि जु और को देखै सु देखनहारो ॥ ९ ॥

आवत हू जात खात खेलत खुलत गात,
छींकत छकात चुपचाप ह्वै न रहिये।
कहै 'पदमाकर' परे हु परभात, प्रेम
पागत पगात परमातमा न जहिये॥
बैठत उठत जात जागत जँभात सुख,
सोवत हू सापने न औरे नाथ नहिये।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥ १० ॥

आयो मन हाथ तब आइबो रह्यो न कछू,
भायो गुरु-ज्ञान फेरि भाइबो कहाँ रह्यो।
कहै 'पदमाकर' सुगंध की तरंग जैसे,
पायो सतसंग फेरि पाइबो कहा रह्यो॥
दान-बल बान-बल विविध वितान-बल,
छायो जस-पुंज फेरि छाइबो कहा रह्यो।
ध्यायो राम रूप तब ध्याइबो रह्यो न कछू
गायो रामनाम तब गाइबा कहा रह्यो ॥ ११ ॥

प्रलै के पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया के।
भीर भरी झाँझरी बिलोकि मँझधार परी
धीर न धरात 'पदमाकर' खेवैया को॥
कहा वार कहा पार जानी है न जात कछू,
दूसरो दिखात न रखैया और नैया को।
बहन न पैहे, घेरि घाटहि लगैहै, ऐसो
अमित भरोसो मोहिं मेरे रघुरैया को ॥ १२ ॥

को किहिको सुत को किहि को पितु को किहि की पति कौन की को ती।
कौन को को जग ठाकुर चाकर, को 'पदमाकर' कौन को गोती॥
जानकी-जीवन जानि यहै, तजि दे तू सबै धन धाम औ धोती।
हौं तो न लोटतो लोभ लपेट में पेट की जो पै चपेट न होती॥१३॥
ए ब्रजचंद गोविंद गोपाल! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों 'पदमाकर' आनँद के नद हौं, नँदनंदन! जानि लिए मैं॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुर्यो जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मैं॥१४॥
ह्वै थिर मंदिर में न रह्यो गिरि-कंदर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता रघुराज-कथा न यथामति गाई॥
यों पछिताय कछू 'पदमाकर' कासों कहौं निज मूरख ताई।
स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ बैस बिताई॥१५॥

विविध

देखु 'पदमाकर' गोविंद को अमित छवि,
संकर समेत विधि आनँद सों बाढ़ो है।
झिझकत झूमत मुदित मुसुकात गहि,
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है॥
पटकत पाँव होत पैजनी झुनुक रंच,
नेक नेक नैनन तें नीर कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनक पय पीवे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है॥१६॥

फागुन की भीर अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर ते सुविदा दई मीडि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥१७॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंडरी सुपट की।
कहै 'पदमाकर' गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीवट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥ १८॥

चालो सुनि चंद मुखी चित्त में सुचैन करि,
तित बन बागन घनेरे अलि घूम रहे।
कहै पदमाकर मयूर मंजु नाचत हैं,
चाय सों चकोरनी चकोर चूमि चूमि रहे॥
कदम, अनार आम, अगर असोक थोक
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे॥ १९॥

तीखे तेगवाही जे सिपाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदान की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ैं हाथी पै,
धूरि धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥ २०॥

भारतेन्दु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के संपन्न अग्रवाल कुल में भाद्र शुक्ल ५, संवत् १९०७ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ को हुई। वे हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग के प्रथम बिन्दु माने जाते हैं। नाटक, निबंध, प्रहसन, पद्य आदि सभी के विकास में भारतेन्दु का एक ऐतिहासिक स्थान है।

हिन्दी पद्य का इतिहास देखें तो भारतेन्दु ने उसमें पथदर्शक का काम किया है। जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य साहित्य को देशकाल के अनुसार उन्होंने नए नए विषयों की ओर लगाया उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। भाषा, भाव, वस्तु और रूपबंध सभी में अभिनवता और युगानुरूपता आ गई। भाषा ब्रज थी तोभी उसमें नई माँगों को पूरा करने की स्वस्थता और जीवनी शक्ति थी। भाव भी कृष्ण प्रेम के साथ आधुनिक युग का ऐह लौकिक अनुभव पूर्ण मात्रा में मिलता है। वस्तु की दृष्टि से सबसे प्रधान स्थान देशभक्ति का है। अतीत इतिहास का स्मरण, वर्तमान दशा के लिए वेदना और भविष्य के जागरण के लिए शुभ कामना आदि ने इस राष्ट्रीय वस्तु को सदा भाव प्रधान बनाये रखा है, कभी शुष्क नहीं होने दिया। रूपबंध की दृष्टि से भी भारतेन्दु में एक नूतन प्रवृत्ति मिलती है। मुक्तक और गीतों के अतिरिक्त प्राचीन धारा में प्रबन्ध काव्य दो प्रकार के मिलते थे। पद्मावत, मानस, रामचंद्रिका आदि के समान कथा काव्य अथवा हिंडोला, ऋतुविहार आदि के समान वस्तु वर्णन प्रधान प्रबन्ध। पर बुढ़ापा, विधि विडंबना, गो रक्षा, सपूत,

प्रबोधिनी आदि सामान्य विषयों पर छोटे छोटे भावमय प्रबन्धों की चाल न थी। भारतेन्दु से इस रूप का प्रवर्तन होता है।

इस प्रकार सुकवि भारतेन्दु का विवेचन करके आलोचक निश्चय कर लेता है कि उन्होंने आधुनिक कविता के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। यद्यपि उन्होंने बाह्य प्रकृति चित्रिण अथवा नवीन काव्य प्रणाली का प्रयोग आदि कोई नये युग का महत्त्वपूर्ण काय नहीं किया तथापि उनके पूरे साहित्य में ऐसा प्रतीत होता है कि एक नवीनता है। उनकी पदावली में गंभीर व्यंजना और नव चेतना है। उनकी काव्य रूप योजना में अनुभूति की प्रेरणा है।

भारतेन्दु

प्रबोधिनी

जागो मंगलरूप सकल व्रजजनरखवारे।
जागो नन्दानन्द-करन जसुदा के बारे॥
जागो बलदेवानुज रोहिनि मात दुलारे।
जागो श्री राधा जू के प्रानन तें प्यारे॥
जागो कीरति-लोचन-सुखद, भानु-मान-वर्धित-करन।
जागो गोपी-गो गोप-प्रिय भक्त-सुखद असरन-सरन।१॥

होन चहत अब प्रात चक्रवाकिनी सुख पायो।
उड़े बिहग तजि बास चिरैयन रोर मचायो॥
नव मुकुलित उत्पल पराग लै सीत सुहायो।
मंथर गति अति पावन करत पडुर बन धायो॥
कलिका उपवन विकसन लगीं भँवर चले संचार करि।
पूरब पच्छिम दोउ दिसि अरुन, तरुन अरुन कृत तेज धरि॥२॥

दीप-जोति भई मंद पहरुगन लगे जँभावन।
भई सँजोगिनी दुखी कुमुद मुद मुँदे सुहावन॥
कुम्हिलाने कच-कुसुम वियोगिनि लगि सचुपावन।
भई मरगजी सेज लगे सब भैरव गावन॥
तन अभरन-गन सीरे भए काजर दृग विकसित सजत।
अधरन रस लाली साथ मुख पान स्वाद तजनो चहत॥३॥

मथत दही ब्रज-नारि दुहत गोधन ब्रज-बासी ।
उठि उठि कै निज काज चलत सब घोष-निवासी ॥
द्विज-गन लावत ध्यान करत सन्ध्यादि उपासी ।
बनत नारि खंडिता क्रोध पिय पेखि प्रकासी ॥
गो-रम्भन-धुनि सुनि बच्छगन आकुल माता ढिग चलत ।
पशु-वृंद सबै बन को गवन करन चले सब उच्छलत ॥४॥

नारद तुंबरू घट विभास ललितादि अलापत ।
चारहु मुख सों वेद पढ़त बिधि तुव जस थापत ॥
इन्द्रादिक सुर नमत गुहारत थर थर काँपत ।
व्यासादिक रिषि हाथ जोरि तुव अस्तुति जापत ॥
जय विजय गरुड़ कपि आदि गन खरे खरे मुजरा करत ।
शिव डमरू लै गुन गाइ तुव प्रेम-मगन आनंद भरत ॥५॥

दुर्गादिक सब खरीं कोर नैनन की जोहत ।
गंगादिक आचँवन देत घट लाईं सोहत ॥
तीरथ सब तुव चरन परस-हित ठाढ़े मोहत ।
तुलसी लीने कुसुम अनेकन माला पोहत ॥
ससि सूर पवन घन इंदिरा निज निज सेवा में लगत ।
ऋतु काल यथा उपचार में खरे भरे भय मगमगत ॥६॥

बंदी जन सब द्वार खरे मधुरे गुन गावत ।
चंग मृदंग सितार बीन मिलि मंद बजावत ॥
द्विज-गन पै वेदगान अनेक असीस पढ़ावत ।
निज निज सेवा में सब सेवक उठि उठि धावत ॥
पिकदान थार दरपन चँवर जल-झारी उबटन मलय ।
लीनें सुगंध तँबोल लै खरे दास दासी निचय ॥७॥

मथे सद्य नवनीत लिये रोटी घृत-चोरी।
तनिक सलोनो साक दूध की भरी कटोरी॥
खरी जसोदा मात जस बलि बलि तृन तोरी।
तुव मुख निरखन-हेत ललक उर किये करोरी॥
रोहिनि आदिक सब पास हो खरी बिलोकत वदन तुव।
उठि मंगलमय दरसाय मुख मंगलमय सब करहु ध्रुव॥८॥

करत काज नहि नंद, बिना तुव मुख अवरेखे।
दाऊ बन नहिं जात वदन सुंदर बिनु देखे॥
ग्वालिन दधि नहिं बेंचि सकत लालन बिनु पेखे।
गोप न चारत गाय लखैं बिनु सुंदर भेखे॥
भइ भीर द्वार भारी खरे सब मुख निरखन आस करि।
बलिहार जागियै देर भइ बन गो चारन चेत धरि॥९॥

करत रोर तम-चोर मोर चकवाक बिगोए।
आलस तजि कै उठो सुरत सुख सिंधु भिगोए॥
दरसन हित सब अली खरीं आरती सँजोए।
जुगल जागिए देर भई पिय प्यारी सोए॥
मुख-चंद हमें दरसाइ के हरो विरह को दुख विकट।
बलिहार उठो दोऊ अबै बीती निसि, दिन भो प्रगट॥१०॥

ललिता लीने बीन मधु सुर सों कछु गावत।
बैठि बिसाखा कोमल करन मृदंग बजावत॥
चित्रा रचि रचि बहु कुसुमन की माल बनावत।
स्यामा भामा अभरन सारी पाग सजावत॥
पिकदान चंद्रभागा लिये चंपक लतिका जल गहत।
दरपन ले कर में इंद्रलेखा बलि बलि जागो कहत॥११॥

कबरी सबरी गूँथि फेर सों माँग भराओ।
कसिकै रस सों पाग पेंच सिरपेंच बँधाओ॥
अंजन मुख सों सीस महावर-बिंदु छुड़ाओ।
जुग कपोल सों पीक पोंछि कै छाप मिटाओ॥
उर हार चीह्न परि पीठ पर कङ्कन उपर्‌यो देत छवि।
जागौ दुराउ तेहि लाल अब जामें कछु बरनैं न कवि॥१२॥

आलस पूरे नैन अरून अब हमहि दिखावहु।
सुरत याद दै प्रिया-दृगन भरि लाज लजावहु॥
चुटकी दै बलिहार बोलि कछु अलस जँभावहु।
केलि कहानी विविध भाखि कछु हँसहु हँसावहु॥
भरि प्रेम परस्पर तन चितै आलस मेटहु लागि हिय।
अँगरानि मुरनि लपटानि लखि सखिगन सब सिराहिं जय॥१३॥

जागौ जागौ नाथ कौन तिय-रति रस भोये।
सिगरी निसि कहुँ जागि इतै आवत ही सोए॥
क्यों न सम्हुहैं नैन करत क्यों लाज सगोए।
आधे आधे बैन कहत रस-रंग भिगोए॥
बलिहार और के भाग सुख हमें प्रात दरसन मिलन।
ताहू पै सोवत लाल बलि जागौ कज चहत खिलन॥१४॥

जुगल कपोलन पीक छाप अति शोभा पावत।
खंडित अधरन पै अञ्जन जावक सरसावत॥
सिर नूपुर घुँघरू अंक छवि दुगुन बढ़ावत।
अंग अंग प्रति आभरन-गन चिह्नित दरसावत॥
कंकन पायल सों पीठ खचि गाल तरौनन सों चुम्बित।
कंचुकी छाप सह माल बहु बिनु गुन कोमल हिय खुभित॥१५॥

रहे नील पट ओढ़ि चूनरिकन जहँ लपटाए।
सेंदुर बिंदुली पीक चित्र तहँ बिबिध बनाए ॥।
बिथुरी अलकन में बेसर क्यों सरस फँसाए।
खसित पाग में गलित कुसुम मिलि पेंच बँधाए ।।
बलिहार आरती जल लिए दासी बिनयबचन कहत।
जागो पीतम अब निसि बिगत गर लागो, मनमथ दहत ॥१६॥

डूबत भारत नाम, बेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो ॥
महा मूढ़ता बायु बढ़ावत, तेहि अनुरागो।
कृपा दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो ॥
अपुनो अपुनायो जानिकै करहु कृपा गिरिवर-धरन।
जागो बलि बेगहि नाथ अब, देहु दीन हिंदुन सरन ॥१७॥

प्रथम मान धन बुधि कोशल बलदेइ बढ़ायो।
क्रम सों विषय-विदूषित जन करि तिनहिं घटायो ॥
आलस मै पुनि फाँसि, परसपर, बैर चढ़ायो।
ताही के मिस जवन, काल सम को पग आयो ॥
तिनके कर की करवाल बल, बाल वृद्ध सब नासि कै।
अब सोवहु होय अचेत तुम, दीनन के गल फाँसि कै ॥१८॥

कहँ गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चंद्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर ॥
कहँ छत्री सब मरे, जरे सब गए किते गिर।
कहाँ राज को तौन, साज जेहि जानत है चिर ॥
कहँ दुर्ग सैन धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
जागो अब तौ खल-बल-दलन, रखहु अपुनो आर्य मग ॥१९॥

५

जहाँ विसेसर सोमनाथ माधव के मन्दिर।
तहँ महजिद बनिगई होत अब अल्ला अकबर॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे बर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
जहँ धनविद्या बरसत रही सदा अबै वाही ठहर।
बरसत सबही बिधि बेबसी अब तौ जागो चक्रधर॥२०॥

गयो राज धन तेज, रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि बीरता श्री उछाह शूरता बिलाई॥
आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई॥
सब विधि नासी भारत प्रजा कहूँ न रह्यौ अवलंब अब।
जागो जागो करूनायतन फेर जागिहौ नाथ कब॥२१॥

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात पीयत गंगा जल॥
धन बिदेस चलि जात, तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिल हत रचि न सकत कल॥
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत॥२२॥

पृथ्वीराज जय चंद कलह जवन बुलायो।
तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो॥
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय बासना दुसह मुहम्मदसाह फैलायो॥
तब लौं सोए बहु नाथ तुम जागे नहिं कोऊ जतन।
अब तौ जागौ बलि बेर भइ है मेरे भारत रतन॥२३॥

जागो हौं बलि गई बिलंब न तनिक लगावहु ।
चक्रसुदरसन हाथ धारि रिपु मारि गिरावहु ॥
थापहु थिर करि राज छत्र सिर अटल फिरावहु ।
मूरखता दीनता कृपाकरि बेग नसावहु ॥
गुन विद्या धन बल मान बहु सबै प्रजा मिलि कै लहैं ।
जय जय राज महराज की आनँद सो सब ही कहैं ॥२४॥

सब देसन की कला सिमिट कै इतही आवै ।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पैं हेत बढ़ावै ॥
गाय दूध बहु देहि तिनहि कोऊन नसावै ।
द्विज गन आस्तिक होइँ मेघ सुभ जल बरसावै ॥
तजि छुद्र बासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं ।
कहि कृष्ण राधिका-नाथ जय हमहूँ जिय आनँद भरहिं ॥२५॥

रत्नाकर

कविवर रत्नाकर आधुनिक युग की व्रजभाषा काव्यधारा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वे वस्तु, भाव और शैली सभी दृष्टियों से प्राचीनता के प्रतिनिधि थे पर उनकी प्रतिभा युग की परख करके प्राचीनता को युगानुरूप सुन्दर और स्वस्थ बना लेती थी। इसीलिए उनकी व्रजभाषा में शक्ति है और काव्यवस्तु में सुरुचि।

इनकी प्रसिद्धि प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों क्षेत्रों में है। इनके मुख्य प्रबंध काव्य हैं हरिश्चंद्र, उद्धवशतक और गंगावतरण। हरिश्चन्द्र काव्य वर्णन का प्रवाह, भाषा की सरसता और करुणरस की अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध है। उद्धवशतक प्रबन्ध कौशल और शब्द चित्रों के लिए अद्वितीय माना जाता है। यद्यपि इस खण्डकाव्य में उद्धव-गोपी संवाद का वही प्राचीन प्रसंग है जिस पर व्रजभाषा के अनेक कवि सफलतापूर्वक लिख चुके हैं तो भी रत्नाकर जी की कल्पना ने उसमें अभिनव रमणीयता ला दी है।

गंगावतरण में रत्नाकर जी का पूर्ण वैभव देख पड़ता है। उनका प्राकृतिक दृश्य चित्रण, मानव भावनाओं का अंकन तथा वर्णन कौशल सभी उत्कृष्ट कोटि का है। भाषा पर पूर्ण अधिकार शैली का प्रवाहमय और आकर्षक बना देता है।

ऐसा सफल प्रबंध लेखक मुक्तक लिखने में और भी अधिक पटु है। उनके मुक्तकों में प्रबंध का रस मिलता है। उदाहरणार्थ उनके अष्टक बहुत प्रभावशाली और रस पूर्ण बन पड़े हैं। यदि केवल वीराष्टक ही

आलोचना के लिए सामने रखें तोभी रत्नाकर जी का यश हिंदी साहित्य में अमर रहेगा।

रत्नाकर जी की सभी कविताओं का संग्रह रत्नाकर नामक ग्रंथावली में हुआ है। उसकी विषयसूची के ग्यारह मुख्य प्रकरण हैं—हिंडौला, समालोचनादर्श, हरिश्चन्द्र, कलकाशी, उद्धवशतक, गंगावतरण, शृंगार लहरी, गंगाविष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक और प्रकीर्ण पद्यावली। नाम से इन कविताओं की वस्तु का परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त रत्नाकर जी ने बिहारी सतसई की टीका लिखी है। वह बिहारी रत्नाकर के नाम से प्रसिद्ध है। उसका हिंदी जगत् में बहुत मान है।

यह लब्धप्रतिष्ठ कवि काशी का नागरिक था। उसका जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल ५ संवत् १९२३ को हुआ था। और संवत् १९८९ में जब वे हरिद्वार गए हुए थे उनका गोलोक वास हुआ।

वीराष्टक

श्री कृष्ण दूतत्व

बोधन कौं काज जदुराज दुरजोधन कौं,
पाँचौ महाजोधनि के मत सुनि ठानी है।
कहै रतनाकर मिलाप के अलाप हेत,
आप चलिबे की चारु चाह चित आनी है॥
एते माहिं द्रौपदी दुखारी दुरी दीठि परी,
सारी संधि साधन की साध सिथिलानी है।
सानी कछु आँस मैं उसास मैं उड़ानी कछू,
छूटे कैस-पास मै, उसेस अरुझानी है॥ १॥

बोधन मदंध अंधपूत दुरजोधन कौं,
दीनबंधु आनि रथ कंध ठहरत हैं।
कहै रतनाकर तरंगित उमंगरंग,
श्याम घन अंग छनदा लौं छहरत हैं॥
निस्वन-निनाद औ असंख संख-नाद मिले,
जान आदि घुमडी घटा लौं घहरत है।
थहरत चाङ्गपानि सारंग भुजा पै हसज्यौ,
अच्छय धुजा पै पच्छिराज फहरत हैं॥ २॥

दुख बनवास के अज्ञात बासहू के त्रास,
रावरे कहै पै कै बिसास सब झेले हैं।
कहै रतनाकर बुलाइ अब कीजै न्याइ,
दूरि करि जेते द्रोह मोह के झमेले हैं॥

दीजै बाँटि बखरे कछू तौ वेगि पाँडव के,
हस्थ रन-ताडव के दारुन दुहेले हैं।
भीष्म औ द्रोन सौं विचार करि देखौ रंच,
द्रोही दुष्ट-पंचक तौ पंच पर खेले हैं ॥ ३ ॥

दीजै गाँव पाँच ही हमारे कहैं पाँडव कौं,
खाँडव लौं ना तौ राजसाज दहि जाइँगे।
कहै रतनाकर निछत्र छिति ह्वै है सबै,
सूर वीर स्रोनित-नदी में बहि जाइँगे ॥
सूझत नहीं है तुम्हैं अब तौ सुझाए रंच,
पाछैं पछिताएँ कहा लाहु लहि जाइँगे।
ह्वैहैं वृथा आँखैं खुलि तब जब देखन कौं,
जग में तिहारे ना दुलारे रहि जाइँगे ॥ ४ ॥

भीषम औ द्रोन कृपाचार राखि साखी सुनौ,
भाषी ना हमारी यह टारी टरि जाइगी।
नाथ रतनाकर के कहत उठाए हाथ,
माथ पै अकीरति तिहारे धरि जाइगी ॥
ह्वै है दुरजोधन निधन सब जोधनि लै,
सारी श्रोनि स्रोन-सरिता सौं भरि जाइगी।
ए हो कुरुराज जौ न मानिहौ हमारी आज,
तौ पै या समाज पर गाज परि जाइगी ॥ ५ ॥

मानी दुष्ट पंचक न बात जब रंचक हूँ,
वंचक लौं और ही अठान वरु ठानी है।
कहै रतनाकर हुमसि हरि आनन पै,
आनि कछु औरै कोप-ओप उमगानी है ॥

हेरि चक्र चहुँघाँ सरोस दृग फेरि चले,
अक्र ह्वै सबै ही रहे बक्रता बिलानी है।
सौहैं हाथ-पायनि उठावन की कौन कहै,
दीठि ना उठाई कोऊ ढीठ भट मानी है ॥ ६ ॥

त्रिकुटी तनेनी जुटी भृकुटी बिराजैं बक्र,
तोले संख चक्र कर डोले थरकत हैं।
कहै रतनाकर त्यौं रोष की तरग भरे,
रोषित-उमंग अंगअंग फरकत हैं॥
कर्न दुरजोधन दुसासन कौ मान कहा,
प्रान इनके तो पाँसुरी मैं खरकत हैं।
भीषम औ द्रोनहूँ सौं बनत न डारैं डीठि,
नीठिहूँ निहारे नैन-तारे तरकत हैं॥ ७ ॥

पाँचजन्य गूँजत सुनान सब कान लग्यौ,
दसहूँ दिसानि चक्र चक्रित लखायौ है।
कहै रतनाकर दिवारनि मैं, द्वारनि मैं,
काल सौ कराल कान्ह-रूप दरसायौ है॥
मंत्र षडयंत्र के स्वतंत्र ह्वै पराने दूरि,
कौरव-सभा मैं कोऊ होठ ना हलायौ है।
संक सौं सिमिटि चित्र-अक से भए हैं सबै,
बंक अरि-उर पै अतंक इमि छायौ है॥ ८ ॥

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक पुकार्‌यौ रन भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।
कहै रतनाकर रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी॥

जीति उठि जाइगी अजीत पंडुपूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी।
कै तौ प्रीतिरीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरिप्रन की प्रतीति उठि जाइगी ॥ १ ॥

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा,
स्वारथसमेत परमारथ नसैहौं मैं।
कहै रतनाकर प्रचारयौ रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन दुख दूरि दैहौ मैं ॥
पंचनि कैं देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पचनि कौ स्वत्व पचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं।
हरि-प्रन-हारी-जस धारि कै धरा है सांत,
सांतनु को सुभट सपूत कहवैहौ मैं ॥ २ ॥

मुंड लागे कटन पटन कालकुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं।
कहै रतनाकर वितुंड-रथ-बाजी झुंड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं ॥
हेरत हिराए से परस्पर सचिंत सूर,
पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं।
लच्छलच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सचक्र सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं ॥ ३ ॥

भीषम के बाननि की मार इमि माँची गात,
एकहूँ न घात सव्यसाची करि पावै है।
कहै रतनाकर निहारि सो अधीर दसा,
त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवै है ॥

रहि-रहि हाथ चक्र-ओर ठहि जात नीठि,
रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है ॥
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय-घालन की बानि उमगावै है ॥ ४ ॥

ह्यौ अवसान सकल धनंजय कौ,
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं।
कहै रतनाकर निहारि करुनाकर कैं,
आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं ॥
रोकि झर रंचक अरोक वर बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसकाइ मंद स्वर मैं।
चाहत बिजै कौ सारथी जो कियो सारथ,
तौ बक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर मैं ॥ ५ ॥

बक्र भृकुटी कै चक्र ओर चष फेरत हीं,
सक्र भये अक्र उर थामि थहरत हैं।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं ॥
कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काटैं खीस,
फननि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं।
मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीडि,
उद्रित समुद्र अद्रि रुद्र महरत हैं ॥ ६ ॥

जाकी सत्यता मैं जग-सत्ता की समस्त सत्व,
ताके ताकि प्रन कौं अतत्त्व अकुलाए हैं।
कहै रतनाकर दिवाकर दिवस ही मैं,
झेंप्यौ कंपि झूमत नछत्र नभ छाए हैं ॥

गंगानंद आनन पै आई मुसकानि मंद,
जाहि जोहि वृंदारक वृंद सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब विरथ रथांग धरि धाए हैं ॥ ७ ॥

ज्यौंही भए विरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रनभंग की रहो न चित चेत है।
कहै रतनाकर त्यौं संग हीं सखाहूँ कूदि,
आनि अर्यौ सौंहैं हाहा करत सहेत है ॥
कलित कृपा औ तृषा द्विमग समाहे पग,
पलक उठ्यौई रह्यौ पलक समेत है।
धरन न देत आगैं अर्रुाफ़ि धनंजय औ,
पाछै उभय भक्तभाव धरन न देत है ॥ ८ ॥

मैथिलीशरण गुप्त

कवि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी की राष्ट्रीयधारा के सफल कवि हैं। राष्ट्रीयधारा का लक्षण होता है राष्ट्र के अधिक से अधिक पाठकों को राष्ट्रीय भावना से संपन्न करना। गुप्त जी ने अपने विशाल वाङ्मय से इस कार्य को बहुत निपुणता से किया है। उन्होंने चालीस से अधिक ग्रंथ लिखे हैं। उन सब की प्रेरणा का मूल है मेरा देश, मेरी संस्कृति और मेरी परंपरा।

काव्यरूप की दृष्टि से गुप्त जी के काव्यों का परिचय करने पर उनका सबसे पहला गुण मालूम पड़ता है प्रबंधसौष्ठव। महाकाव्य, सुकाव्य, खंडकाव्य, गीतात्मक प्रबंध, चंपू आदि अनेक प्रकार के सफल प्रबन्धकाव्य आपने लिखे हैं। यद्यपि गीतकाव्य के क्षेत्र में भी आपने यश पाया है पर प्रतिभा का सहज विस्तार प्रबन्ध के क्षेत्र में ही पूर्ण हुआ है। 'साकेत' महाकाव्य है, सिद्धराज सुकाव्य है, पंचवटी खंडकाव्य है, द्वापर गीतात्मक प्रबन्ध है, यशोधरा चंपू है। भारतभारती, गुरुकुल, नहुष आदि आपके अन्य अनेक काव्य भी लोक प्रसिद्ध हैं तथापि आलोचकों की दृष्टि में साकेत का स्थान सबसे ऊँचा है। उसका अध्ययन गुप्तजी का पूरा परिचय करा देता है। गुप्तजी राम नाम और मर्यादावाद के कवि हैं। साकेत में कवि ने इन दोनों तत्वों का ऐसा सफल चित्रण किया है कि आधुनिक जीवन से उनका समन्वय हो जाता है। साकेत में आधुनिक विद्यार्थी इस युग की मानव वृत्तियों और प्रवृत्तियों का चित्र देखता है। इसलिए वह गुप्तजी की राम भक्ति को केवल सुरुचिपूर्ण आवरण समझता है। परंपराप्रेमी जनता साकेत में रामचरितमानस का

नया रूप रंग देखती है और आधुनिक भावना के रूप रङ्ग को आवरण-मात्र मानती है। साकेत की वस्तु का यही विशेष गुण मैथिलीशरण की लोकप्रियता का मर्म है। वे पुराण युग की कथा लिखने में ही अपने युग की कथा कह डालते हैं।

साकेत में प्रबन्धकाव्य के चारों गुण भी पाये जाते हैं। कथा संबंध का निर्वाह आधुनिक युग की गीतपद्धति के अनुसार अखंड चलता है। सवादों की योजना प्रथम सर्ग से ही आकर्षक लगने लगती है। अंतिम सर्ग में सवाद की निखरी कला देख पड़ती है। भावों और रसों की व्यंजना भी सफल हुई है। वर्णन का चाथा गुण भी कवि की अभ्यास प्रौढ़ता का परिचय देता है। वस्तु और प्रकृति दोनों का वर्णन अच्छा बन पड़ा है। इन चारों अंगों का समन्वित प्रभाव इतना अच्छा पड़ता है कि जो आलोचक साकेत को महाकाव्य नहीं मानते वे भी मुग्ध होकर इसे आधुनिक युग का ऊँचा काव्य अवश्य मान लेते हैं।

साकेत को पढ़कर सहृदय स्थिर कर लेता है कि वस्तु, भाव और शैली सभी की दृष्टि से गुप्त जी भारतीय जन जागरण के कवि हैं। राष्ट्र का लोक जीवन अपना स्वरूप और अपनी गृह संस्कृति भूल रहा था। गुप्त जी ने इसी का गान सदा किया है। भाव भी सयम और मर्यादा के साथ लोक जीवन से ही ग्रहीत हुए हैं। शैली तो काव्यमयी होने पर भी व्यास शैली की सरलता और स्पष्टता से पूर्ण है। भाषा अलंकृत और तत्सम पदों से पूर्ण होने पर भी प्रवाहमयी होती है।

अंत में गुप्तजी का साहित्यिक परिचय बढ़ाने के लिए दो बातें जान लेना चाहिये और उन्हीं का विवेचन करके उनका हि. सा. के इतिहास में स्थान निश्चित किया जा सकता है। एक बात है उनके विशाल वाङमय का पूरा व्याख्यात्मक परिचय और दूसरी बात है उनके देश, काल और व्यक्तिगत जीवन का परिचय। श्री मैथिली शरण गुप्त का जन्म श्रावण

शुक्ल ३, संवत् १९४३ को चिरगांव में हुआ। यह गांव झांसी जिले की ऐतिहासिक भूमि में है। गुप्त जी के पिता बाबू रामचरण रामोपसिक वैष्णव थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आप के आचार्य थे। इसलिए सरस्वती धारा का पूर्ण प्रभाव गुप्त जी की रचनाओं में है।

मैथिलीशरण गुप्त

साकेत

मंगलाचरण

जयति कुमार - अभियोग - गिरा गौरी प्रति,
सगण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं—
"देखो अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूँड से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कन्दुक - सा ऊपर उछालते हैं,
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं!"

प्रथम सर्ग

अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे,
इधर भी निज वरद-पाणि पसारदे।
दास की यह देह - तन्त्री तार दे,
रोम तारों में नई झंकार दे।
बैठ मानस - हंस पर कि सनाथ हो,
भारवाही कण्ठ - केकी साथ हो।
चल अयोध्या के लिये सज साज तू,
माँ, मुझे कृत कृत्य कर दे आज तू।

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,
भाग्य भास्कर उदयगिरी पर चढ़ गया।
हो गया निर्गुण सगुण-साकार है;
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
किस लिये यह खेल प्रभु ने है किया?
मनुज बनकर मानवी का पय पिया?
भक्त-वत्सलता इसी का नाम है,
और वह लोकेश लीला धाम है।
पथ दिखाने के लिये संसार को,
दूर करने के लिये भूभार को,
सफल करने के लिये जन-दृष्टियाँ,
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ?
असुर-शासन शिशिर-मय हेमन्त है;
पर निकट ही राम-राज्य-वसन्त है।
पापियों का जान-लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रकाश अनादि अनन्त है।
राम-सीता धन्य धीराम्बर-इला;
शौर्य-सह सम्पत्ति, लक्ष्मण-उर्मिला।
भरत करता, माण्डवी उनकी क्रिया;
कीर्ति-सी श्रुतकीर्ति शत्रुघ्न प्रिया।
ब्रह्म की है चार जैसी स्फूर्तियाँ,
ठीक वैसी चार माया-मूर्तियाँ।
धन्य है दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष है;
धन्य भगवद्भूमि-भारतवर्ष है!
देख लो, साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।

केतु-पट अंचल-सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर-दृग जुड़ रहे।
सोहती हैं विविध-शालायें बड़ी;
छत उठाये भित्तियाँ चित्रित खड़ी।
गेहियों के चारु-चरितों की लड़ी,
छोड़ती है छाप जो उन पर पड़ी!
स्वच्छ सुंदर और विस्तृत घर बने;
इंद्र धनुषाकार तोरण हैं तने;
देव-दंपति अट्ट देख सराहते;
उतर कर विश्राम करना चाहते।
फूल-फल कर, फैल कर जो हैं बढ़ी,
दीर्घ छज्जों पर विविध बेलें चढ़ी।
पौर कन्यायें प्रसून-स्तूप कर,
वृष्टि करती हैं यहीं से भूप पर।
फूल-पत्ते हैं, गवाक्षों में कढ़े,
प्रकृति से ही वे गये मानों गढ़े।
दामनी भीतर दमकती है कभी,
चंद्र की माला चमकती है कभी।
सर्वदा स्वच्छंद छज्जों के तले,
प्रेम के आदर्श पारावत पले।
केश-रचना के सहायक हैं शिखी,
चित्र में मानों अयोध्या है लिखी!
दृष्टि में वैभव भरा रहता सदा;
घ्राण में आमोद है बहता सदा।
ढालते हैं शब्द श्रुतियों में सुधा;
स्वाद गिन पाती नहीं रसना-क्षुधा!

कामरूपी वारिदों के चित्र-से,
इंद्र की अमरावती के मित्र-से,
कर रहे नृप-सौध गगन स्पर्श हैं;
शिल्प कौशल के परम आदर्श हैं।
कोट-कलशों पर प्रणीत विहंग हैं;
ठीक जैसे रूप वैसे रंग हैं।
वायु की गति गान देती है उन्हें;
बाँसुरी की तान देती है उन्हें।
ठौर ठौर अनेक अध्वरयूप हैं,
जो सुसंवत् के निदर्शन-रूप हैं।
राघवों की इंद्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े।
मूर्तिमय विवरण समेत जुदे जुदे,
ऐतिहासिक वृत्त जिनमें हैं खुदे।
यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ हैं,
दूर करते दानवों का दम्भ हैं।
स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ;
किन्तु सुर सरिता कहाँ, सरयू कहाँ!
वह मरों को मात्र पार उतारती;
यह यहीं से जीवितों को तारती।
अंगराग पुराँगनाओं के धुले,
रंग देकर नीर में जो हैं घुले,
दीखते उनसे विचित्र तरङ्ग हैं;
कोटि शक्र-शरास होते भंग हैं।
है बनी साकेत नगरी नागरी,
और सात्विक-भाव से सरयू भरी।

पुण्य की प्रत्यक्ष धारा बह रही;
कर्ण-कोमल कल-कथा-सी कह रही।
तीर पर हैं देव-मन्दिर सोहते;
भावुकों के भाव मन को मोहते।
आस-पास लगी वहां फुलवरियाँ;
हँस रही हैं खिल खिलाकर क्यारियाँ।
है अयोध्या अवनि की अमरावती,
इन्द्र हैं दशरथ विदित व्रीरव्रती;
वैजयन्त विशाल उनके धाम हैं,
और नन्दन वन बने आराम हैं।
एक तरु के विविध सुमनों-से खिले,
पौर जन रहते परस्पर हैं मिले।
स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी,
बाह्य भोगी, आन्तरिक योगी सभी।
व्याधि की बाधा नहीं तन के लिये;
आधि की शंका नहीं मन के लिये।
चोर की चिन्ता नहीं धन के लिये;
सर्व सुख है प्राप्त जीवन के लिये।
एक भी आँगन नहीं ऐसा यहाँ,
शिशु न करते हों कलित-क्रीडा जहाँ।
कौन है ऐसा अभागा गृह कहो,
साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो?
धान्य-धन-परिपूर्ण सब के धाम हैं,
रंग शाला से सजे अभिराम हैं।
नागरों की पात्रता, नव नव कला
क्यों न दे आनन्द लोकोत्तर भला?

ठाट है सर्वत्र घर या घाट है;
लोक-लक्ष्मी की विलक्षण हाट है।
सिक्त, शिंजित-पूर्ण मार्ग अकाट्य हैं;
घर सुघर नेपथ्य, बाहर नाट्य हैं।
अलग रहती हैं सदा ही ईतियाँ;
भटकती हैं शून्य मे ही भीतियाँ।
नीतियों के साथ रहती रीतियाँ;
पूर्ण हैं राजा - प्रजा की प्रीतियाँ।
पुत्र रूपी चार फल पाये यहीं;
भूप को अब और कुछ पाना नहीं।
बस यही संकल्प पूरा एक हो;
शीघ्र ही श्रीराम का अभिषेक हो।
सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ;
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्यों कि उसके अँग पीले पड़ चले;
रम्य - रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे;
देख लो, लोचन - कुमुद झँपने लगे।
वेष - भूषा साज ऊषा आ गई;
मुख - कमल पर मुस्कराहट छा गई।
पक्षियों की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी,

स्वप्न के जो रंग थे वे घुल उठे,
प्राणियों के नेत्र कुछ कुछ खुल उठे।
दीप-कुल की ज्योति निष्प्रभ हो गिरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी।
किन्तु दिनकर आ रहा क्या सोच है?
उचित ही गुरुजन-निकट संकोच है।
हिम-कणों ने है जिसे शीतल किया,
और सौरभ ने जिसे नव बल दिया;
प्रेम से पागल पवन चलने लगा;
सुमन-रज सर्वांग में मलने लगा।
प्यार से अँचल पसार हरा-भरा,
तारकायें खींच लाई है धरा।
निरख रत्न हरे गये निज कोष के,
शून्य रंग दिखा रहा है रोष के।
ठौर ठौर प्रभातियाँ होने लगीं,
अलसता की ग्लानियाँ धोने लगीं।
कौन भैरव-राग कहता है इसे,
श्रुति-पुटों से प्राण पीते हैं जिसे?
दीखते थे रंग जो धूमिल अभी,
हो गये हैं अब यथायथ वे सभी।
सूर्य के रथ में अरुण-हय जुत गये,
लोक के घर-बार ज्यों लिप-पुत गये।
सजग जन जीवन उठा विश्रान्त हो,
मरण जिसको देख जड़-सा भ्रान्त हो!
दधिविलोडन, शास्त्र-मन्थन सब कहीं;
पुलक-पूरित तृप्त तन-मन सब कहीं।

खुल गया प्राची दिशा का द्वार है,
गगन-सागर में उठा क्या ज्वार है!
पूर्व के ही भाग्य का यह भाग है,
या नियति का राग-पूर्ण सुहाग है!
अरुण-पट पहने हुए आल्हाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गयी।
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला!
जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े—
हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।
पद्मरागों से अधर मानों बने;
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने।
और इसका हृदय किससे है बना?
वह हृदय ही है कि जिससे है बना।
प्रेम-पूरित सरल कोमल चित्त से,
तुल्यता की जासकै किस वित्त से?
शाण पर सब अंग मानों चढ़ चुके,
प्राण फिर उनमें पड़े जब गढ़ चुके।
झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है।
लोल कुण्डल मंडलाकृत गोल हैं,
घन-पटल से केश, कांत-कपोल हैं।

देखती है जब जिधर यह सुंदरी,
दमकती है दामनी-सी द्युति-भरी।
हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जाती अन्यथा न कलाइयाँ?
चूड़ियों के अर्थ, जो हैं मणिमयी,
अंग की ही कांति कुंदन बन गई।
एक ओर विशाल दर्पण है लगा,
पार्श्व से प्रतिबिंब जिसमें है जगा।
मंदिरस्था कौन यह देवी भला?
किस कृती के अर्थ है इसकी कला?
स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला;
नाम है इसका उचित ही "उर्मिला"।
शील-सौरभ की तरंगे आ रही,
दिव्य-भाव भवाब्धि में हैं ला रही।
सौधसिंह द्वार पर अब भी वही,
बाँसुरी रस रागिनी में बज रही।
अनुकरण करता उसी का कीर है,
पंजरस्थित जो सुरम्य शरीर है।
उर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की!
मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ!
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा!
पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो, बता दूँ मैं अभी।

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है;
सोचता है अन्य शुक यह कौन है?
यों वचन कहकर सहास्य विनोद से,
मुग्ध हो सौमित्रि मन के मोद से,
पद्मिनी के पास मत्त-मराल-से,
हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से।
चारु-चित्रित भित्तियाँ भी वे बड़ी,
देखती ही रह गयीं मानों खड़ी।
प्रीति से आवेग मानों आ मिला,
और हार्दिक हास आँखों में खिला।
मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई।
रसिकता में सुरस सरसाती हुई,
उर्मिला बोली "अजी, तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
"मोहनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ!"
गत हुई सलाप में बहु रात थी,
प्रथम उठने की परस्पर बात थी
"जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं!"
"प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं!"
"प्रेम की यह रुचि विचित्र सराहिये,
योग्यता क्या कुछ न होनी चाहिये?"
"धन्य है प्यारी, तुम्हारी योग्यता,
मोहिनी-सी मूर्ति, मंजु—मनोज्ञता।

धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ ;
किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।"
"दास बनने का बहाना किस लिये?
क्या मुझे दासी कहाना इसलिये?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो!"
उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही;
तब कहा सौमित्रि ने कि "यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय देवी सदा;
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय सेवी सदा।"
फिर कहा—"वरदान भी दोगी मुझे?
मानिनी, कुछ मान भी दोगी मुझे?"
उर्मिला बोली कि "यह क्या धर्म है?
कामना को छोड़कर ही कर्म है।"
"किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी,
मैं तुम्हारे पाद-पद्मों में पड़ी।
त्याग या स्वीकार कुछ भी हो भले,
वह तुम्हारी वस्तु आश्रित-वत्सले!"
"शस्त्रधारी हो न तुम, विष के बुझे,
क्यों न काँटों में घसीटोगे मुझे।
अवश अबला हूं न मैं, कुछ भी करो,
किन्तु पैर नहीं, शिरोरुह तब धरो!"
"सांप पकड़ाओ न मुझको निर्दये,
देख कर ही विष चढ़े जिनका अये!
अमृत भी पल्लव-पुटों में है भरा,
विरस मन को भी बना दे जो हरा।

'अवश-अबला' तुम ! सकल बल-वीरता,
विश्व की गम्भीरता, ध्रुव - धीरता,
बलि तुम्हारी एक बाकी दृष्टि पर,
मर रही है, जी रही है सृष्टि भर।
भूमि के कोटर, गुहा गिरि गर्त भी,
शून्यता नभ की सलिल-आवर्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज - संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?
जन्म भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर,
चारु चिन्तामणि-कला से होड़कर,
कल्पवल्ली-सी तुम्हीं चलती हुई,
बाँटती हो दिव्य-फल फलती हुई।"
"खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम,
आन्तरिक सुख-दुख हम जिसमें धरें,
और निज भव-भार हम हलका करें।
तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला ?
कह अरे, क्या चाहिये तुझको भला।"
"जनक पुर की राज-कुज-विहारिका,
एक सुकुमारी सलौनी सारिका!"
देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे;
उर्मिला के नेत्र खंजन-से फँसे।
"तोड़ना होगा धनुष उसके लिए;"
"तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये।
सुतनु टूटे का भला क्या तोड़ना
कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।

होड़ दाँतों की तुम्हारे जो करे,
जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे!"
ललित ग्रीवा-भंग दिखलाकर अहा!
उर्मिला ने लक्ष्य कर प्रिय को, कहा—
"और भी तुमने किया कुछ है कभी,
या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी?"
"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही!"
बात यह सौमित्रि ने सस्मित कही।
"देख लूँगी"—उर्मिला ने भी कहा।
विविध विध फिर भी विनोदामृत बहा।
हार जाते पति कभी, पत्नी कभी;
किन्तु वे होते अधिक हर्षित तभी।
प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,
हार में जिसमें परस्पर जीत है!
"कल प्रिये निज आर्य का अभिषेक है;
सब कहीं आनन्द का अतिरेक है।
राम-राज्य विधान होने जा रहा;
पूत पर पावन नया युग आ रहा!
अब नया वर-वेश होगा आर्य का,
और साधन क्षत्र-कुल के कार्य का।
दृग सफल होंगे हमारे शीघ्र ही,
सिद्ध होंगे सुकृत सारे शीघ्र ही।"
"ठीक है, पर कुछ मुझे देना कहो,
देव मेंत न दृष्टि-फल लेना कहो,
तो तुम्हें अभिषेक दिखला दूँ अभी,
दृश्य उसका सामने ला दूँ अभी।"

"चित्र क्या तुमने बनाया है अहा ?"
हर्ष से सौमित्रि ने साग्रह कहा—
"तो उसे लाओ, दिखाओ, है कहाँ ?
'कुछ' नहीं मैं 'बहुत कुछ' दूँगा यहाँ ।"
उर्मिला ने मूर्ति बनकर प्रेम की,
खींच कर मणि खचित मचिया हेम की,
आप प्रियतम को बिठा उस पर दिया,
खोल कर चित्र-पट सम्मुख किया ।
चित्र भी था चित्र और विचित्र भी,
रह गये चित्रस्थ-से सौमित्र भी ।
देख भाव-प्रवणता, वर-वर्णता,
वाक्य सुनने को हुई उत्कर्णता !
तूलिका सर्वत्र मानों भी तुली;
वर्ण-निधि-सी व्योम-पट पर थी खुली ।
चित्र के मिष नेत्र-विहगों के लिये,
आप मोहन-जाल माया थी लिये ।
सुध न अपनी भी रही सौमित्र को;
देर तक देखा किये वे चित्र को ।
अन्त में बोले बड़े ही प्रेम से—
"हे प्रिये, जीती रहो तुम क्षेम से ।
दुर्ग-सम्मुख, दृष्टि-रोध न हो जहाँ,
है सभा-मंडप बना विस्तृत वहाँ ।
झालरों में मंजु मुक्ता हैं गुहे,
माँग में जिस भाँति जाते हैं गुहे ।
दीर्घ खम्भे हैं बने वैदूर्य के;
ध्वज-पटों में चिह्न कुल-गुरु सूर्य के ।

बज रही है द्वार पर जय - दुन्दुभी,
और प्रहरी हैं खड़े प्रमुदित सभी।
क्षौम के छत में लटकते गुच्छ हैं,
सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं।
पद्म - पुंजों - से पटासन हैं पड़े,
और हैं बाघंबरों के पाँवड़े।
बीच में है रत्न - सिंहासन बना,
छत्र और वितान जिस पर है तना।
आर्य दम्पति राजते अभिराम हैं;
प्रकट तुलसी और शालग्राम हैं!
सब सभासद शिष्ट हैं नय-निष्ठ हैं;
छोड़ते अभिषेक - वारि वसिष्ठ हैं।
आर्य - आर्या हैं तनिक कैसे झुके,
आज मानों लोक - भार उठा चुके!
बरसती है खचित मणियों की प्रभा;
तेज में डूबी हुई है सब सभा!
सुर-सभा-गृह बिम्ब इसका ही बड़ा;
व्योम रूपी काँच में है जा पड़ा!
पंच पुरजन सचिव सब प्रमुदित बड़े;
माण्डलिक नरवीर कैसे हैं खड़े।
हाथ में राजोपहार लिये हुये,
देश देश विचित्र वेश किये हुये।
किन्तु मित्र नरेश सब कब आसके?
भरत भी न यहाँ बुलाये जासके।
यह तुम्हारी भावना की स्फूर्ति है;
जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है!

हो रहा है जो यहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या, कहाँ,
व्यक्त, करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिये,
चाहिये पारस्परिकता ही प्रिये।
मजरी सी अंगुलियों में यह कला,
देखकर मैं क्यों न सुध भूलूँ भला ?
क्यों न अब मैं मत्त गज सा झूमलूँ !
कर कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ!"
कर बढ़ा कर, जो कमल सा-था खिला,
मुस्कराई और बोली उर्मिला—
"मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना,
कर कलम कहकर न मेरा तोड़ना !"
वचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गये,
प्रेम सागर में विमज्जित हो गये।
पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वही,
चूम कर फिर फिर उसे बोले यही—
"एक भी उपमा तुम्हें भाती नहीं;
ठीक भी है वह तुम्हे पाती नहीं।
सजग अब इससे रहूँगा मै सदा!
निरुपमें, पर चित्र मेरा है कहाँ?"
"प्रिय तुम्हारा कौनसा पद है यहाँ!"
"भावती, मैं भार लूँ किस काम का!

एक सैनिक मात्र लक्ष्मण राम का।"
"किन्तु सीता की बहन है उर्मिला;
"वाह उलटा योग यह अच्छा मिला!
अस्तु, कुछ देना तुम्हे स्वीकार हो,
तो तुम्हारा चित्र भी तैयार हो।"
"और जो न हुआ!" गिरा प्रिय ने कहीं;
"तो पलट कर आप मैं दूँगी वही।"
होड़ कर यों उर्मिला उद्यत हुई,
और तत्क्षण कार्य में वह रत हुई।
ज्योति सी सौमित्रि के सम्मुख जगी;
चित्रपट पर लेखनी चलने लगी।
अवयवों की गठन दिखलाकर नई,
अमल जल पर कमल से फूले कई।
साथ ही सात्विक सुमन खिलने लगे,
लेखिका के हाथ कुछ हिलने लगे!
झलक आया स्वेद भी मकरन्द सा,
पूर्ण भी पाठ्य हुआ कुछ मन्द सा।
चिबुक-रचना में उमंग नहीं रुकी,
रंग फैला, लेखनी आगे झुकी।
एक पीत तरंग रेखा सी बही,
और वह अभिषेक घट पर जा रही।
हँस पड़े सौमित्रि भावों से भरे;
उर्मिला का वाक्य था केवल "अरे!"
"रंग घट में ही गया, देखा रहो।
तुम चिबुक भरने चलीं थी, क्यों नहो!"
उर्मिला भी कुछ लजा कर हँस पड़ी,

वह हँसी भी मोतियों की सी लड़ी।
"बन पड़ी है आज तो!" उसने कहा—
"क्या करूँ, वस में न मेरा मन रहा।
हार कर तुम क्या मुझे देते कहो?
मैं वही हूं, किन्तु कुछ का कुछ न हो।"
हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले—"एक परिरम्भण प्रिये!"
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया!
बीत जाता एक युग पल-सा वहाँ,
सुन पड़ा पर हर्ष-कलकल-सा वहाँ।
द्वार पर होने लगी विरुदावली;
गूँजने सहसा लगी गगनस्थली।
सूत, मागध, वन्दिजन यश पढ़ उठे;
छन्द और प्रबन्ध नूतन गढ़ उठे।
मुरज, वीणा, वेणु आदिक बज उठे;
विज्ञ वैतालिक सुरावट सज उठे।
दम्पती चौंके, पवन-मण्डल हिला;
चंचला-सी छिटक छूटी उर्मिला।
तब कहा सौमित्रि ने—"तो अब चलूँ,
याद रखना किन्तु जो बदला न लूँ!
देखने कुल-वृद्धि-सी पाताल से,
आ गये कुल देव भी द्रुत चाल से।
दिन निकल आया विदा दो अब मुझे;

फिर मिले अवकाश देखूँ कब मुझे !
उर्मिला कहने चली कुछ, पर रुकी,
और निज अंचल पकड़ कर वह झुकी।
भक्ति-सी प्रत्यक्ष भू-लग्ना हुई,
प्रिय कि प्रभु के प्रेम में मग्ना हुई।

चूमता था भूमितल को अर्ध विधु-सा भाल;
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ;
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

इसके आगे ? विदा विशेष;
हुये दम्पती फिर अनिमेष।
किन्तु जहाँ है मनोनियोग,
वहाँ कहाँ का विरह वियोग ?

बाल-बोध

वह बाल-बोध था मेरा।
निराकार निर्लेप भाव में
भान हुआ जब तेरा।
तेरी मधुर भाव मृदु ममता,
रखती कहीं नहीं निज समता,
करुण कटाक्षों की वह क्षमता,
फिरा जिधर भव फेरा;
अरे सूक्ष्म, तुझमें विराट ने
डाल दिया है डेरा।
वह बाल-बोध था मेरा॥
पहले एक अजन्मा जाना,
फिर बहु रूपों में पहचाना,
वे अवतार चरित नव नाना,
चित्त हुआ चिर चेरा;
निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का
निकला वास बसेरा।
वह बालबोध था मेरा॥
डरता था मैं तुझ से स्वामी,
किंतु सखा था तू सहगामी,
मैं भी हूँ अब क्रीड़ा-कामी,
मिटने लगा अँधेरा;

दूर समझता था मैं तुझको,
तू समीप हँस हेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

अब भी एक प्रश्न था—कोऽहं ?
कहूँ-कहूँ जब तक दासोऽहं
तन्मयता कह उठी कि सोऽहं !
बस हो गया सवेरा;
दिन मणि के ऊपर उसकी ही
किरणों का है घेरा।
वह बाल-बोध था मेरा।

प्रसाद

जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माता माने जाते हैं। गद्य, पद्य चंपू और नाटक सभी क्षेत्रों में उन्होंने अमूल्य सेवा की है। गद्य का विकास चार रूपों में हुआ है। कहानी, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबंध। कहानी का आरंभ तो प्रसाद ने किया ही था उसे विकास की एक सीमा तक भी उन्होंने ही पहुँचा दिया था। आज हिंदी कहानी के क्षेत्र में प्रसाद शैली और प्रसाद स्कूल का स्वतंत्र स्थान है। उनकी सत्तर कहानियों ने रूप-संपत्ति और अनुभव-भूमिका को बहुत समृद्ध कर दिया है।

उपन्यास के क्षेत्र में भी प्रसाद का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे हैं कंकाल, तितली और इरावती। इरावती अपूर्ण है। इस प्रकार दो ही उपन्यास उनकी कीर्ति के कारण बने हैं। इन दो ही उपन्यासों में प्रसाद ने एक अभिनव उपन्यास शैली की स्थापना कर दी है। इस शैली में रस और चरित्र-चित्रण का समन्वय रहता है। साथ ही महाकाव्य का युग-संदेश गद्य के सरल आवरण में छिपा रहता है। नाटकीय पद्धति और काव्यमयी भाषा का आकर्षण भी पूरा रहता है।

गद्य काव्य की भी सेवा प्रसाद ने उचित मात्रा में की है। आलोचकों ने कहा है कि यद्यपि उन्होंने स्वतंत्र रूप से गद्य-काव्य नहीं लिखे हैं तथापि नाटकों, उपन्यासों और कहानियों मे इतने गद्य-काव्य हैं कि उनका ऐतिहासिक प्रभाव हिंदी भाषा और साहित्य पर पड़ा है। उनका अलग संकलन और आलोचन करने से विद्यार्थी का बहुत उपकार होता है।

निबंध साहित्य को भी प्रसाद ने बहुत कुछ दिया है। आचार्य शुक्लजी ने निबंध में विचार और आलोचना को ही प्रधान स्थान दिया है। प्रसाद के निबंध इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने जो ऐतिहासिक निबंध लिखे हैं वे हिंदी-साहित्य की ही नहीं भारतीय इतिहास की संपत्ति माने जाते हैं और आलोचना के क्षेत्र में तो उनके निबंधों ने परंपरा के पुनर्जागरण का महत्त्वपूर्ण काम किया है। इस प्रकार प्रसाद के दोनों प्रकार के निबंधों का एक विशिष्ट स्थान है। उनके द्वारा परंपरा के तथ्यों और प्रतीकों की ओर हमारी सुरुचि का प्रत्यावर्तन हुआ है।

इन्हीं निबंधों के प्रकाश में जब हम पद्य साहित्य का अध्ययन करते हैं तब हम प्रसाद को एक काव्य-धारा का प्रवर्तक मानते हैं। आधुनिक युग की छायावादी काव्य धारा को उन्होंने बहुत कुछ दिया है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, पाठ्यमुक्तक, गीतिकाव्य आदि सभी काव्य रूपों के उदाहरण उनके साहित्य में हैं कामायनी महाकाव्य है, प्रलय की छाया खण्डकाव्य है, और आँसू के छंद पाठ्यमुक्तक हैं। झरना और लहर में गीतिकाव्य के अनेक रूप विद्यमान हैं। उनमें से गीत और चतुर्दश पदी ये दो रूप विशेष महत्व के माने जाते हैं। इनका अध्ययन करने से प्रसाद की गंभीर अनुभूति और विशिष्ट रूप-निष्पत्ति का परिचय मिलता है।

प्रयोग की दृष्टि से प्रसाद ने उर्वशीचंपू लिखा था और उसमें भी उन्हें बहुत कुछ सफलता मिली है।

दृश्य काव्य का इतिहास देखें तो प्रसाद आधुनिक नाटक के समर्थ निर्माता हैं। उन्होंने उत्कृष्ट कोटि का नाट्यसाहित्य लिखा है। उनके बारह नाटक हिन्दी की अक्षय निधि हैं—सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। इन नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने भारतीय रस

परंपरा और पश्चिमी चरित्र-चित्रण वाली नाट्यपद्धति का सफल समन्वय किया है। उनके नाटकोंमें पाठ्य, गेय, और अभिनेय तीनों प्रकार की सामग्री मिलती है। रसबिन्दु स्थिर होने से इन तीनों का सदा उचित निर्वाह होता है। वस्तु की दृष्टि से इनके नाटक इतिहास और अध्यात्म से पूर्ण रहने पर भी आधुनिक युग को अंकित करने में सफल हुए हैं। भाषा की दृष्टि से ये नाटक साहित्य परंपरा की भाषा से परिचित और ऊँची विचार धारा से संपन्न अधिकारी दर्शकों के लिए हैं।

इस प्रकार प्रसाद की चहुमुखी साहित्य सेवा देख कर आलोचक कहते हैं कि प्रसाद ने आधुनिक हिंदी साहित्य का निर्माण किया है।

उनके इस विशाल साहित्य का अध्ययन करने में पांच बातों का ज्ञान सहायता देता है। प्रसाद का काव्य और कला संबघी दृष्टिकोण, रहस्यवाद, छायावाद, रसवाद और पश्चिमी प्रभाव का समन्वय। प्रसाद काव्य को कला नहीं मानते। वे काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानते हैं। वे रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं। छायावाद उनके अनुसार वह सौंदर्यवाद है जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता रहती है। रसवाद के संबध में वे प्राचीन आचार्य अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं। इसी कारण यद्यपि उन्होंने पश्चिम के काव्य रूपों का पूरा मान किया है, पश्चिमी साहित्य के सभी बाह्य गुणों को ग्रहण करने का प्रयास किया है तथापि काव्य का अतरंग सदा भारतीयता से पूर्ण रहा है। प्रसाद साहित्य का हृदय रस की शान्ति से पूर्ण है इसीलिए प्रसाद का समन्वय इतना सुरुचिपूर्ण और सफल हुआ है।

(आधुनिक आलोचना की दृष्टि से साहित्यिक परिचय के साथ ही कवि का लौकिक परिचय भी अध्ययन में आवश्यक होता है।)

चतुर्दशपदी

महाकवि तुलसीदास

[ले० श्रीयुत बा० जयशङ्करप्रसाद]

"अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा।
सकल चराचर जिसका क्रीड़ा पूर्ण पसारा॥"
इस शुभ सत्ता को जिसने प्रत्यक्ष किया था।
मानवता को सदय राम का रूप दिया था॥
नाम निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला।
अंधकार भवबीच नाम-मणि दीपक वाला॥
दीन रहा, पर चिंतामणि वितरण करता था।
भक्ति-सुधा से जो संताप हरण करता था॥
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना।
जाग चुका था जग था जिसके आगे सपना॥
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का।
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का॥
राम छोड़कर और की, जिसने कभी न आस की।
'राम चरित-मानस कमल' जय हो तुलसीदास की॥ १ ॥

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आपही।
क्यों परिचित होगये?—न थे जब चाहते—
हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था।
स्वयं दिखाकर सुन्दर हृदय मिला लिया
दूध और पानी सा; अब फिर क्या हुआ?—
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते थे।
भरा हुआ था नवल मेघ जल-बिंदु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया?
शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर तुम्हें, न तुम कुछ भी पुलकित हुये।
मरु-धरणी-सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी?—आशा कानन को यही।
डरते थे इसको, होते थे संकुचित—
'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।'

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भींगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार॥
भींग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार।
अरुण! किरण सम कर से छूलो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥
धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूं तेरे द्वार॥
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार॥
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश।
मेरे ऐसे धूलि कणों से कब, तेरे पद को अवकाश॥
पैरों ही से लिपटा-लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार।
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार॥
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूँ खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार॥

नीरद के प्रति

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलंब।
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरंब ॥
बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज-कानन का संकोच।
अरे जलद में भी यह ज्वाला! झुके हुए क्यों किसका सोच ॥
किस निष्ठुर ठंडे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान।
पिघल रहे हो किस गर्मी से? हे करुणा के जीवन प्राण ॥
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप।
तारा-आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप ॥
किस मानस निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप।
प्रणय-प्रभाकर कर से चढ़कर इस अनंत का करते माप ॥
क्यों जुगनू का दीप जला है पथ में पुष्प और आलोक।
किस समाधि पर बरसे आँसू किसका है यह शीतल शोक ॥
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मंथर गति से।
किस अतीत की प्रणय पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से ॥

स्वर्ण संसार

अरे आ गई है भूली सी—
यह मधु - ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया मैं रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को!
वसुधा ऊपर नीचे नभ हो,
नीड़ अलग सब से हो,
झाड़ खण्ड के चिर पतझड़ में,
भागो सूखे तिनको!
आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह, खलेगा किनको?
सिहर भरी कँपती आवेगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगा कर—
मानस नयन- नलिन को।
जवा कुसुम - सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँधकर
आवेंगी शशि - किरने,

अन्तरिक्ष छिड़केगा कन कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुंदर से हैं,
दे देने दो इनको।



शेर सिंह का शस्त्र समर्पण

"ले लो यह शस्त्र है
गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
अब तो न लेश मात्र।
लाल सिंह! जीवित कलुष पंचनद का
देख दिये देता है
सिंहों का समूह नख दन्त आज अपना।"
"अरी रण - रङ्गिनी!
सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी!
कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
दुर्मद दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी—
निकल, चली जा तू प्रतारणा के कर से।"
"अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या?
तोपें मुँह खोले खड़ी देखती थीं त्रास से
चिलियान वाला में।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही,
उनके समर-वीर कर में तू नाचती
लप - लप करती थी—जीभ जैसे यम की।
उठी तू न लूट त्रास भय के प्रचार को,
दारुण निराशा भरी आखों से देखकर
इस अत्याचार को
एक पुत्र - वत्सला दुराशामयी विधवा
प्रगट पुकार उठी प्राण भरी पीड़ा से—

और भी ;
जन्म भूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त हो कराहती थी
कैसे फिर रुकती ?"
"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किंतु यह विजय प्रशंसा भरी मन की—
एक छलना है।
वीरभूमि पञ्चनद वीरता से रिक्त नहीं।
काठ के हों गोले जहाँ
आटा बारूद हो
और पीठ पर हो दुरंत दंशनों का त्रास
छाती लड़ती हो भरी आग, बाहुबल से
उस युद्ध में तो बस मृत्यु ही विजय है।
सतजल के तट पर मृत्यु श्याम सिंह की—
देखी होगी तुमने भी वृद्ध वीर मूर्ति वह
तोड़ा गया पुल प्रत्यावर्तन के पथ में
अपने प्रवंचकों से।
लिखता अदृष्ट था विधाता वाम कर से।
छल में विलीन बल—बल में विषाद था—
विकल विलास का।
यवनों के हाथों से स्वतंत्रता को छीनकर,
खेलता था यौवन-विलासी मत्त पञ्चनद—
प्रणय विहीन एक वासना की छाया में।
फिर भी लड़े थे हम निज प्राणपण से।

कहेगी शतद्रुशत संगरों की साक्षिणी,
सिक्ख थे सजीव—
स्वत्व रक्षा में प्रबुद्ध थे।
जीना जानते थे,
मरने को मानते थे सिक्ख।
किंतु आज उनकी अतीत वीर गाथा हुई—
जीत होती जिसकी
वही है आज हारा हुआ"
"ऊर्जस्वित रक्त औ उमङ्ग भरा मन था
जिन युवकों के मणिबंधों में अबंध बल
इतना भरा था
जो उलटता शतघ्नियों को।
गोले जिनके थे गेंद
अग्निगयी क्रीड़ा थी
रक्त की नदी में सिर ऊँचा छाती सीधी कर
तैरते थे।
वीर पञ्चनद के सपूत मातृभूमि के
सो गये प्रतारणा की थपकी लगी उन्हें
छल-बलि वेदी पर आज सब सो गये।
रूप भरी, आशा भरी, यौवन अधीर भरी,
पुतली प्रणयिनी का बाहुपाश खोलकर,
दूध भरी दूध सी दुलार भरी माँ की गोद
सूनी कर सो गये।
हुआ है सूना पञ्चनद।
भिक्षा नहीं मांगता हूँ—
आज इन प्राणों की।

क्योंकि, प्राण जिसका आहार, वही इसकी
रखवाली आप करता है, महाकाल ही;
शेर पंचनद का प्रवीर रणजीत सिंह
आज मरता है देखो;
सो रहा है पंचनद आज उसी शोक में।
यह तलवार लो
ले लो यह थाती है।"

निराला

कविवर निराला आधुनिक युग के विशिष्ट साहित्यकार हैं। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में लिखा है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, प्रबन्ध, पाठ्य मुक्तक, गीत, व्यंग्यकाव्य आदि का विशाल वाङ्मय उन्होंने हमें दिया है। और हिन्दी जगत् ने सन् १९४७ में उनकी स्वर्ण जयन्ती मनाते समय अपने अभिनंदन और आलोचन से उनका ऐतिहासिक महत्व स्वीकार किया है। इस महत्व का मुख्य कारण आलोचकों की दृष्टि में उनकी विशाल सेवा ही नहीं, अभिनव, और बहुमुखी काव्यरचना है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में निराला जी क्रान्ति और परिवर्तन के प्रतिनिधि हैं। राष्ट्रीय धारा के अग्रदूत मैथिलशरण गुप्त वस्तु और भाव में आधुनिक होते हुए भी परम्परा की लीक पर ही चलते हैं, वे अपनी दृढ़ता और नाम निष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं। रहस्यवादी धारा के प्रवर्तक प्रसाद जी ने आधुनिक काव्यरूपों के प्रयोग तो किए हैं पर आत्मा की दृष्टि से वे प्राचीन परम्परा के ही भक्त हैं। उनकी मोहक रूप सम्पत्ति की आधुनिकता में भी मौन साधना और सेवा के ही अनुभव अंकित हैं। उनका पूरा साहित्य भारतेन्दु की रस परम्परा का सुन्दरतम विकास है। परन्तु निराला नाम और रूप दोनों में ही आधुनिक हैं। उन्होंने आधुनिकता का पूर्ण और सफल प्रयोग हिन्दी में किया है। आधुनिक काव्य की पहली प्रवृत्ति है लोकानुभव की प्रधानता। प्राचीन काव्य अलौकिक और आध्यात्मिक अनुभव को ही अपना केन्द्र मानकर चलता था। जब यह अनुभवकेन्द्र कल्पित रहता था। तब कविता कलावादी अथवा रीतिवादी हो जाती थी। पर आधुनिक काव्य इस लोक के अनुभव को ही सदा अपनी दृष्टि में रखता है इसी से रस रहस्य और प्रकृति सभी का अर्थ आधुनिक युग में पहले से भिन्न हो गया है। जिस

प्रकार वैज्ञानिक इन पर प्रत्यक्षवादी दृष्टि से विचार करता है उसी प्रकार आज कवि भी प्रत्यक्ष विश्व के रूपों, व्यापारों और भावों को ही अपनी भावना का आधार मानकर कवि कर्म करता है। इस युग की दूसरी प्रवृत्ति है साम्य, स्वातंत्र्य और बन्धुत्व के भावों में समाज सुख की कल्पना। प्राचीन युग का कवि अपनी व्यक्तिगत सेवा से राम राज्य, सारस्वत नगर अथवा आदर्श विश्व बनाने की कल्पना करता था पर आज का कवि प्रत्येक बात का विचार अथवा चित्रण समाज और विश्व के दृष्टिकोण से करता है। आधुनिक युग की तीसरी प्रवृत्ति है नगर से हटकर ग्राम की ओर जाना और अपनी कला तथा प्रतिभा के लिए अभिनय छंद, स्वाभाविक संगीत आदि की सामग्री ढूँढ़ना। युग की चौथी प्रवृत्ति है समग्र विश्व की साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से स्वस्थ प्रभाव ग्रहण करना। ये सभी मुख्य प्रवृत्तियाँ निरालाजी के काव्य में हैं।

विश्लेषण करने पर निरालाजी का वस्तु क्षेत्र बहुत व्यापक देख पड़ता है। परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों के ही सफल चित्र उनके काव्य में मिलते हैं। गीतिका के गीतों में उन्होंने शुद्ध परोक्ष के ज्योतिचित्र उपस्थित किए हैं। जैसे "तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान" आदि पदों में। रहस्यमयी अनुभूति के अतिरिक्त उन्होंने जगत् और जीवन के उन प्रस्तुत रूपों और व्यापारों को भी सरस बनाया है जो सभी सहृदय पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। 'दिल्ली' नामक कविता में कवि अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों को बड़ी सजीवता से स्मरण करता है। यमुना को देख कर कवि छायावादी भाव-नाओं से पूर्ण हो जाता है। विधवा की करुणमूर्ति खींचते समय निराला जी प्रगतिवाद के सरस अग्रदूत मालूम पड़ने लगते हैं। समाज में प्रचलित ढोंग का भी दृश्य कवि ने गोमती के किनारे दिखाया है जहाँ एक पुजारी बन्दरों को मालपूआ खिलाता है और एक भिक्षुक की ओर आँख उठाकर देखता तक नहीं।

'धारा' नामक कविता में पहाड़ी नदी की बाढ़ का प्राकृतिक दृश्य बहुत उग्र और ओजस्वी बन गया है। इस प्रवाहमयी मनोहरता के साथ ही उसमें नई काव्यधारा की जो सफल व्यंजना है उसकी मूर्ति चिरस्थायी प्रभाव छोड़ जाती है। साथ ही इस कविता में निरालाजी की आत्म-कथा सी मालूम पड़ती है। प्रकृति का एक सर्वथा भिन्न चित्र हम उनकी 'जूही की कली' में देखते हैं। प्रकृति शृंगार-रस का दर्पण बन गई है। आधुनिक शैली में शृंगार का ऐसा सलोना चित्र अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रकृति का तीसरा रूप निरालाजी को 'प्रपात के प्रति' नामक कविता में मिलता है। सौम्य प्रकृति को देखकर कवि भी सौम्य और सरस हो जाता है। प्रकृति का चौथा रूप है 'जागो फिर एक बार' में कवि प्रकृति में उद्बोधन की सामग्री ढूँढ़ता है। इस प्रकार निरालाजी ने प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण किया है।

निरालाजी के वस्तु चयन की एक विशेषता यह भी है कि वे इच्छानुसार कभी सरल कविता लिखते हैं और कभी कठिन। उदाहरण के लिए 'महाराज शिवाजी का पत्र' बहुत सुंदर रचना होते हुए भी बहुत सरल है। इसमें इतिहास का सजीव चित्र ही नहीं है इस युग के पराधीन भारत के लिए उद्बोधन भी है। सरलता और ओजस्विता का सुंदर निर्वाह हुआ है।

तुलसीदास नामक प्रबन्ध काव्य में निरालाजी की प्रतिभा ने चरित प्रधान वस्तु का अनोखा वर्णन किया है। इसी प्रकार कवि भविष्य के सुख स्वप्न और श्रमजीवियों की यथार्थ स्थिति की ओर भी साहित्यिक दृष्टिपात करता है।

जिस प्रकार उनकी प्रतिभा बहुवस्तुस्पर्शिनी है उसी प्रकार वह शैली और छन्दों के क्षेत्र में भी चहुँमुखी ज्योति जलाने में समर्थ और सफल है। प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, गीत आदि अनेक काव्य रूप तो उन्होंने लिखे ही हैं पर साथ ही मुक्त छन्दों का हिन्दी में सफल प्रयोग

करने वालों में आप अग्रणी माने जाते हैं। भाषा में शक्ति और ओज रहता है। अर्थानुरूप ध्वनि और शब्द रखना आपका सहज गुण है। संगीत और संगीतमय वातावरण के लिए निराला शैली प्रसिद्ध है।

भावना के क्षेत्र में 'केवल कोमलता ही कवित्व का माप दण्ड नहीं है। निरालाजी ने तृण और ओज, सौंदर्य भावना और कोमल कल्पना का जो माधुर्यमय संकलन किया है वह उनकी कविता में शक्ति साधना का उज्ज्वल परिचायक है'। प्रसाद्जी की इस आलोचना को हम निराला के पूरे वाङ्मय में सत्य पाते हैं। उन्होंने रति, हास, उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, निर्वेद आदि सभी भावों के सफल चित्र खींचे हैं और साथ ही वे परोक्ष सत्ता की सुन्दरता भी अनुभूत करा देते हैं। इस प्रकार उनका भाव क्षेत्र भी बहुत व्यापक है।

निराला का अध्ययन करने से नवयुग की भावना और विशेषता से परिचय होता है। सहृदय और आलोचक दोनों को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार पर्याप्त लाभ होता है और आवश्यक सामग्री मिलती हैं।

आधुनिक कवि के अध्ययन में उसका लौकिक परिचय भी अपेक्षित होता है। कवि निराला का पूरा नाम है पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। उनका जन्म माघ शुक्ल एकादशी संवत् १९५५ में बंगाल के मेदिनीपुर जिले के अन्तर्गत महिपादल राज्य में हुआ था। वास्तव में उनका ग्राम कानपूर के पास यू० पी० में है। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण है। वे अंग्रेजी, बँगला, हिंदी और संस्कृत के ज्ञाता हैं। रामकृष्ण मिशन के आध्यात्मिक साहित्य तथा रवीन्द्रनाथ के रहस्यवादी साहित्य से आपका विशेष संपर्क रहा है। 'मतवाला' नामक व्यंग्य और विनोद के पत्र के संपादक होकर ही आप हिंदी में आए थे। इस प्रकार आपके बाहरी जीवन ने आपकी प्रतिभा के लिए उचित मिट्टी और पानी का सुयोग दे दिया था।

निराला

धारा

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है !
गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो।
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना रोकने कभी उसे कुञ्जर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?
तिनका-जैसा मारा-मारा
फिरा तरंगों में बेचारा—
गर्व गँवाया—हारा;
अगर हठवश आवोगे,
दुर्दशा करवाओगे—बह जाओगे
देखते नहीं ? वेग से लहराती है—
नग्न-प्रलय का-सा ताडव हो रहा—
चाल कैसी मतवाली—लहराती है।
प्रकृति को देख, खींचती आँखें
त्रस्त खड़ी है—थर्राती है।
आज हो गए ढीले सारे बंधन,

मुक्त हो गए प्राण,
रुका सारा करुणा-क्रंदन ।
बहती कैसी पागल उसकी धारा !
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा।
बड़े दंभ से खड़े हुए थे भूधर
समझे थे जिसे बालिका,
आज ढहाते शिला खंड चय देख
काँपते थर-थर—
शिला-खंड नर-मुंड-मालिनी कहते उसे कालिका।
छुटी लटें इधर-उधर लटकी है,
श्याम वक्ष पर खेल रही हैं
स्वर्ण किरण-रेखाएँ,
एक पर दृष्टि ज़रा अटकी है,
देखा एक कली चटकी है।
लहरों पर लहरों का चंचल नाच;
याद नहीं थी करनी उसको जाँच,
अगर पूछता कोई तो वह कहती
उसी तरह हँसती पागल सी बहती
"नवजीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए, पार कर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।"

एक गीत

बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु;
पूछेगा सारा गाँव बंधु।
यह घाट वही जिस पर हँसकर
वह कभी नहाती थी धँसकर
आँखें रह जाती थीं फँसकर
काँपते थे दोनो पाँव बंधु
बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु
वह हँसी बहुत कुछ कहती थी
फिर भी अपने में रहती थी
सब की सुनती थी सहती थी
देती थी सबके दाँव बंधु;
बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु।

महाराज शिवाजी का पत्र

वीर !—सर्दारों के सरदार !—महाराज !
बहु जाति क्यारियों के पुष्प पत्र-दल भरे
आन-बान-शान-वाले भारत-उद्यान के
नायक हो, रक्षक हो,
वासन्ती सुरभि को हृदय से हर कर
दिगन्त भरने वाला पवन ज्यों।
वंशज हो —चेतन अमल अंश,
हृदयाधिकारी रवि-कुल-मणि रघुनाथ के।
किन्तु हाय ! वीर राजपूतों की
गौरव प्रलम्ब ग्रीवा—
अवनत हो रही है आज तुमसे महाराज,
मोगल दल-विगलित-बल
हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वंश को
देखो, आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर-प्रखरतम दीखती
दुपहर की धूप-सी,
दुर्मद ज्यों सिन्धुनद
और तुम उसके साथ
वर्षा की बाढ़ ज्यों
भरते हो प्रबल वेग प्लावन का,
बहता है देश निज,

धन-जन-कुटुम्ब-भाई—
अपने सहोदर-मित्र—
निस्सहाय, अस्त भी 'उपाय' शून्य !
वीरता की गोद पर
मोद भरने वाले शूर तुम,
मेधा के महान,
राजनीति में हो 'अद्वितीय जयसिंह'
सेवा हो स्वीकृत—
है नमस्कार, साथ ही
आसीस भी है बार बार।
कारण संसार के, विश्वरूप,
तुम पर प्रसन्न हों,
हृदय की आखें दें,
देखो तुम न्याय-मार्ग।
सुना है मैं ने, तुम
सेना से पाट दक्षिणापथ को
आए हो मुझ पर चढ़ाई कर,
जय-श्री, जयसिंह !
मंगल - सिंहासन के—
औरंग के पैरों के
नीचे तुम रक्खोगे;
काढ़ देना चाहते हो दक्षिण के प्राण—
मोगलों को तुम जीवदान,
काढ़ हिन्दुओं का हृदय,
सदय ऐसे ! कीर्ति से
जाओगे अपनी पताका ले।

हाय री यशोलिप्सा !
अन्धे की दिवस तू—
अन्धकार रात्रि-सी।
लपट में झपट—
प्यासों मरने वाले
मृग की मरीचिका है ।
चेतो वीर, हो अधीर जिसके लिए,
अमृत नहीं, गरल है—
अति कटु हलाहल है ;
कीर्ति-शोभिमा में यह
कालिमा कलङ्क की
दीखती है छिपी हुई—
काला कर देगी मुख,
देश होगा विगत-सुख विमुख भी,
धर्म को सहेगा नहीं
इतना यह अत्याचार।
करो, कुछ विचार,
तुम देखो वस्त्रों की ओर,
शराबोर किसके खून से ये हुए ?
लालिमा क्या है कहीं कुछ ?
भ्रम है वह,
सत्य कालिमा ही है ।
दोनों लोक कहेंगे,
होता तू जानदार,
हिन्दुओं पर हरगिज तू
कर न सकता प्रहार।

अगर निज नाम से,
बाहुबल से, चढ़कर
तुम आते कहीं दक्षिण में
विजय के लिए, वीर,
पद्म-से प्रभात के
इन नयन - पलकों को
राह पर तुम्हारी मैं
सुख से बिछा देता—
सीस भी झुका देता सेवा में
साथ भी होता, वीर,
रक्षक शरीर का, हमरकाब,
साथ लेता सेना निज,
सागराम्बरा भूमि
क्षत्रियों की जीतकर,
विजय - सिंहासन - श्री
सौंपता ला तुम्हें मैं—
स्मृति सी निज प्रेम की।
किन्तु तुम तो आये नहीं अपने लिये,
आए हो, औरङ्गशाह को
देने मृदु अंग निज काटकर।
धोखा दिया है यह
उसने तुम्हें क्या हो!—
दगाबाज़, लाज जो उतारता है
मरजादवालों की,
खूब बहकाया तुम्हें!
सोचता हूँ अपना कर्तव्य अब,—

देश का उद्देश,
आह ! क्या करूँ मैं,
निश्चय कुछ होता नहीं—
द्विधा में पड़े हैं प्राण।
अगर मैं मिलता हूँ,
"डरकर मिला है"
यही शत्रु मेरे कहेंगे।—
नहीं यह मर्दानगी।
समय की बाट कभी
जोहते नहीं हैं पुरुष—
पुरुषकार उपहार में हो संयोग से
जिन्हें मिला—
सिंह भी क्या स्वाँग कभी
करता है स्यार का ?
क्या कहूँ मैं,
लूँ गर तलवार
तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिन्दुओं का अपना ही।
उठता नहीं है हाथ,
मेरा कभी नरनाथ
देख हिन्दुओं को ही
रण में—विपक्ष में।
हाय री दासता !
पेट के लिये ही
लड़ते हैं भाई भाई
कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी।

वीरवर ! समर में
धर्म-घातकों से ही खेलती है रण - क्रीड़ा
मेरी तलवार, निकल म्यान से ।
आये होते गर कहीं
तुर्क इस समर में,
तो क्या शेरमर्दों के
वे शिकार आये होते ।
किन्तु हाय !
न्याय-धर्म-वंचित वह
पापी औरङ्गजेब--
राक्षस निरा जो नर-रूप का,
समझ लिया खूब जब,
दाल है गली नहीं
अफजल खाँ के द्वारा,
कुछ न बिगाड़ सका
शाइस्तः खान आकर,
सीस पर तुम्हारे तब
सेहरा समर का बाँध
भेजा है फतहयाब होने को दक्षिण में ।
शक्ति उसे है नहीं
चोटें सहने की यहाँ
वीर शेरमर्दों की ।
सोचो तुम,
उठती जब नग्न तलवार है स्वतंत्रता की,
कितने ही भावों से
याद दिला घोर दुख दारुण परतंत्रता का,

फूँकती स्वतंत्रता निज मंत्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय !
इसीलिये दुर्जय है हमारी शक्ति।
और भी—
तुम्हें यहाँ भेजा जो,
कारण क्या रण का !
एक यही निस्सन्देह,
हिन्दुओं में बलवान
एक भी न रहजाय ।
लुप्त हो हमारी शक्ति
तुर्कों के विजय को ।
आपस में लड़कर
हो घायल मरेंगे सिंह,
जंगल में गीदड़ ही गीदड़ रह जायँगे—
भोगेंगे राज्य-सुख ।
गुप्त भेद एकमात्र
है यही औरंग का,
समझो तुम,
बुद्धि में इतना भी नहीं पैठता है !
जादू के मारे, हाय,
हारे तुम बुद्धि भी !
समझो कि कैसा बहकाया है !
मिला है तुम्हें
गंध-व्याकुल-समीर-मंद-स्पर्श सरस,

साथ ही मरुभूमि में
सेना के संग तुम
झुलस भी चुके हो खूब
लू के तप्त झोकों में।
सुख और दुख के
कितने ही चित्र तुम देख चुके।
फूलों की सेज पर सोए हो
काँटों की राह भी
आह भर पार की।
काफी ज्ञान, वयोवृद्ध !
पाया है तुमने संसार का।
सोचो जरा,
क्या तुम्हें उचित है कभी
लोहा लो अपने ही भाइयों से ?
अपने ही खून की
अञ्जलि दो पूर्वजों को,
धर्म-जाति के ही लिए
दिये हो जिन्होंने प्राण—
कैसा यह ज्ञान है !
धीमान् कहते हैं तुम्हें लोग,
जयसिंह, सिंह हो तुम,
खेलो शिकार खूब हिरनों का,
याद रहे—
शेर कभी मारता नहीं है शेर,
केसरी
अन्य वन्य पशुओं का ही शिकार करता है।

सिंहों के साथ ही चाहते हो गृह-कलह ?—
जयसिंह !
अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान,
बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है, वीर, यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति,
स्फूर्ति यदि अंग-अंग को है उकसा रही,
आ रही याद यदि अपने मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार,
तुम रहते तलवार के म्यान में,
आओ वीर, स्वागत है,
सादर बुलाता हूं।
हैं जो बहादुर समर के,
वे मरके भी
माता को बचायेंगे।
शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग़,
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे !—
निर्जर हो जाओगे—
अमर कहलाओगे !
क्या फल है,
बाहु बल से छल से या कौशल से
करके अधिकार किसी
भीरु पीनोरु नतनयना नव यौवना पर,

सौंपो यदि भय से उसे
दूसरे कामातुर किसी
लोलुप प्रतिद्वंद्वी को ?
देख क्या सकोगे तुम
सामने तुम्हारे ही
अर्जित तुम्हारी उस
प्यारी सम्पत्ति पर,
प्राप्त करे दूसरा ही
भोग-संयोग निज, आँख दिखा,
और तुम वीर हो ?
रहते तूणीर में तीर, अहो,
छोड़ा कब क्षत्रियों ने अपना भाग ?—
रहते प्राण—कटि में कृपाण के ?
सुना नहीं तुमने क्या वीरों का इतिहास ?
पास ही तो—देखो,
क्या कहता चित्तौर-गढ़ ?
मढ़ गये ऐसे तुम तुर्कों में ?
करते अभिमान भी किन पर ?
विदेशियों—विधर्मियों पर ?
काफ़िर तो कहते न होंगे कभी तुम्हें वे ?
विजित भी न होगे तुम औ गुलाम भी नहीं ?
कैसा परिणाम यह सेवा का ?—
लोभ भी न होगा तुम्हें मेवा का महाराज !
बादल घिर आये जो विपक्षियों के क्षत्रियों पर,
रहती सदा ही जो आपदा,
क्या कभी कोशिश भी की कोई

तुमने बचाने को ?
जानते हो,
वीर छत्रसाल पर
होगा मोगलों का
बहुत शीघ्र ही वज्र प्रहार।
दूसरे भी मलते हैं हाथ,
हैं अनाथ हिंदू,
असहनीय हो रहा है अत्याचार।
सच है मोगलों में
संबंध हुआ है तुम्हारा
किंतु क्या अंध भी तुम हो गये !
राक्षस वह, रखते हो
नीति का भरोसा तुम,
तृष्णा, स्वार्थ साधना है जिसकी,—
निज भाई के खून से,
प्राणों से पिता के
जो शक्तिमान है हुआ ?
जानते नहीं हो तुम !
आड़ राजभक्ति की
लेना हो इष्ट यदि,
सोचो तुम,
शाहजहाँ से तुमने कैसा बर्ताव किया।
दी है विधाता ने
बुद्धि यदि तुम्हें कुछ—
वंश का बचा हुआ
यदि कुछ पुरुषत्व है—

तत्व है,
तपा तलवार
सन्ताप से निज जन्म-भूमि के
दुखियों के आँसुओं से
उस पर तुम पीने दो।
अवसर नहीं है यह लड़ने का आपस में,
खाली मैदान पड़ा हिंदुओं का महाराज,
बलिदान चाहती है जन्म-भूमि,
खेलोगे जान ले हथेली पर ?
धन-जन-देवालय-
देव देश-द्विज-दारा-बंधु
इंधन हैं हो रहे तृष्णा की भट्ठी में—
हद है अब हो चुकी।
और भी यदि कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय है हिंदुओं की कीर्ति उठ जायगी—
चिन्ह भी न हिंदू-सभ्यता का रह जायगा।
कितना आश्चर्य है।
मुट्ठी भर मुसलमान
पले आतंक से हैं
भारत के अंक पर।
अपनी प्रभुता में
हैं मानते इस देश को,
विशृंखल तुम सा यह हो रहा।
देखते नहीं हो क्या,
कैसी चाल चलता है

रण में औरङ्गजेब !
बहुरूपी, रङ्ग बदला ही किया।
साँकलें हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार ले।
याद रहे,
बरबाद जाता है हिन्दूधर्म, हिन्दुस्तान।
मरजाद चाहती है आत्म-त्याग—
शक्ति चाहती है अपनाव, प्रेम।
क्षिप्त हो रहे हैं जो
खण्डशः क्षीण, क्षीणतर हुए—
आप ही हैं अपनी
सीमा के राजराजेश्वर,
भाइयों के शेर और क्रीतदास तुर्कों के,
उद्धत विवेक—शून्य,
चाहिए उन्हें कि रूप अपना वे पहचानें,
मिल जाँय जल से ज्यों जल राशि,
देखो फिर
तुर्क-शक्ति कितनी देर टिकती है।
सङ्गठित हो जाओ—
आओ, बाहुओं में भर
भूले हुए भाइयों को,
अपनाओ अपना आदर्श तुम।
चाहिये हमें कि
तदबीर और तलवार पर

पानी चढ़ावें खूब,
क्षत्रियों की क्षित शक्ति
करलें एकत्र फिर,
बादल के दल मिलकर
घेरते धरा को ज्यों,
प्लावित करते हैं
निज जीवन से जीवों को।
ईंट का जवाब हमें
पत्थर से देना है,
तुर्कों को तुर्की में,
घूँसे से थप्पड़ का।
यदि तुम मिल जाश्रो महाराज जसवन्त सिंह से,
हृदय से कलुष धो डालो यदि,
एकता के सूत्र में
यदि तुम गुँथो फिर महाराज राजसिंह से,
निश्चय है हिन्दुश्रों की लुप्त कीर्ति
फिर से जग जायगी,
श्राएगी महाराज
भारत को गयी ज्योति,
प्राची के भाल पर
स्वर्ण-सूर्योदय होगा,
तिमिर-श्रावरण
फट जायगा मिहिर से,
भीति-उत्पात सब रात के दूर होंगे।
घेर लो सब कोई,
शेर कुछ है नहीं वह

मुट्ठी भर उसके सहायक हैं
दबकर पिस जायँगे।
शत्रु को मौका न दो
अरे, कितना समझाऊँ मै ?
तुमने ही रेणु का सुमेरू बना रक्खा है।
महाराज !
नीच कामनाओं को
सींचने ही के लिये
पल्लवित विष-वल्लरी को करने के हेतु,
मोगलों की दासता के
पाश मालाएँ हैं
फूलों की आज तुम्हें।
छोड़ो यह हीनता,
साँप अस्तीन का
फेंकों दूर
मिलो भाइयों से,
व्याधि भारत की छुट जाय।
बँधे हो बहा दो ना
मुक्त तरङ्गों में प्राण,
मान, धन, अपनापन ;
कब तक तुम तट के निकट
खड़े हुये चुप-चाप
प्रखर उत्ताप के फूल-से रहोगे म्लान
मृतक, निष्प्राण, जड़।
टूट पड़ो–बह जाओ—
दूर तक फैलाओ अपनी श्री, अपना रङ्ग,

अपना रूप, अपना राग।
व्यक्तिगत भेद ने
छीन ली हमारी शक्ति।
कर्षण विकर्षण-भाव
जारी रहेगा यदि
इसी तरह आपस में,
नीचों के साथ यदि
उच्च जातियों की घृणा
द्वन्द्व, कलह, वैमनस्य,
क्षुद्र ऊर्मियों की तरह
टक्करें लेते रहे तो
निश्चय है,
वेग उन तरंगों का
और घट जायगा—
क्षुद्र से वे क्षुद्रतर होकर मिट जायँगी,
चंचलता शांत होगी,
स्वप्न सा विलीन हो जायगा अस्तित्व सब,
दूसरी ही कोई तरङ्ग फिर फैलेगी।
चाहते हो क्या तुम
सनातन-धर्म-धारा शुद्ध
भारत से बह जाय चिरकाल के लिये ?
महाराज!
जितनी विरोधी शक्तियों से
हम लड़ रहे हैं आपस में,
सच मानो खर्च है यह
शक्तियों का व्यर्थ ही।

मिथ्या नहीं,
रहती है जीवों में ऐसी विरोधी शक्ति,
पिता से पुत्र का
पति का सहधर्मिणी से
जारी सदा ही है कर्षण-विकर्षण-भाव
और यही जीवन है–सत्ता है,
किन्तु तो भी
कर्षण बलवान है
जब तक मिले हैं वे आपस में--
जब तक सम्बन्ध का ज्ञान है—
जब तक वे हँसते हैं,
रोते हैं एक दूसरे के लिये।
एक-एक कर्षण में
बँधा हुआ चलता है
एक-एक छोटा परिवार
और उतनी ही सीमा में
बँधा है अगाध प्रेम---
धर्म-भाषा-वेश का,
और है विकर्षणमय
सारा संसार हिन्दुओं के लिए!—
धोखा है अपनी ही छाया से!
ठगते वे अपने ही भाइयों को
लूटकर उन्हें ही वे भरते हैं अपना घर।
सुख की छाया में, फिर रहते निश्चिन्त हो
स्वप्न में भिखारी ज्यों।
मृत्यु का क्या और कोई होगा रूप!

सोचो कि कितनी नीचता है आज
हिन्दुओं में फैली हुई।
और यदि एकीभूत शक्तियों से एक ही
बन जाय परिवार,
फैले समवेदना,
एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर यवनो के—
पस्त हौसला होगा—
ध्वस्त होगा साम्राज्य।
जितने विचार आज
मारते तरङ्गे हैं
साम्राज्यवादियों की भोगवासनाओं में,
नष्ट होंगे चिरकाल के लिये।
आएगी भाल पर
भारत की गई ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायेंगे।
मिलो राजपूतों से,
घेरो तुम दिल्ली-गढ़,
तब तक मैं दोनों सुलतानों को देख लूँ।
सेना घनघटा-सी
मेरे वीर सरदार
घेरेंगे गोलकुण्डा बीजापुर,
चमकेंगे खड्ग सब

विद्युद्द्युति बार बार
खून की पियेंगी धार
सङ्गिनी सहेलियाँ भवानी की,
धन्य हूँगा, देव-द्विज-देश को
सौंप सर्वस्व निज ।

प्रपात के प्रति

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो;
उज्ज्वल ! घन-वन-अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ?
अन्धकार पर इतना प्यार,
क्या जाने यह बालक का अविचार?
बुद्ध का याकि साम्य व्यवहार !
तुम्हारा करता है गति-रोध,
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो
फिर कर ज़रा ठहर जाते हो;
उसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुसकान;
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।

श्री सुमित्रानंदन पंत

श्री सुमित्रानंदन पंत हिंदी के सरल और सुकुमार कवि हैं। सरलता के कारण आप अपने युग के दर्पण बन गए हैं और सुकुमारता ने उस दर्पण को आकर्षक और महत्वपूर्ण बना दिया है। पन्त साहित्य के इस दर्पण में कभी छायावादी युग के चित्र मिलते हैं और कभी प्रगतिवादी युग के। पन्तजी का साहित्य पर्याप्त विशाल है। वीणा, पल्लव, ग्रन्थि, गुंजन, ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी, स्वर्ण किरण, ग्राम्या, पल्लविनी, पाँच कहानियाँ, स्वर्ण धूलि, उत्तरा आदि। सन् १९१८ से लेकर आज तक की उनकी रचनाओं का यदि क्रम-विकास की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो तीन काल सामने आते हैं—पल्लव काल, गुंजन काल और परवर्ती काल। पल्लव काल में कवि का दृष्टिकोण वह प्राकृतिक दर्शन है जो प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति प्रेम और आत्म समर्पण सिखलाता है। इस काल की कविताओं में उन्नीसवीं सदी के शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स आदि अंग्रेजी कवियों का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। इसीलिए इन कविताओं में मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक है। गुंजन काल की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा अधिक है। गुंजन और ज्योत्स्ना में कवि की कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गई है। गुंजन के भाषा संगीत में भी एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता है, जो पल्लव में नहीं मिलती। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप रंग से पल्लवित है और गुंजन की भाषा भाव और भाषा के सूक्ष्म सौंदर्य से गुंजित है।

परवर्ती काल में अर्थात् गुंजन और ज्योत्स्ना के बाद पंत जी भावना से हटकर बुद्धि को प्रधानता देते हैं। वे मानते हैं कि भावना और

बुद्धि से हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं और हृदय की शक्ति से ही सच्ची बुद्धि मिलती है। हृदय हीनता से बुद्धि कभी नहीं बढ़ती। इसीलिए इस युग की कविता में वे इतिहास विज्ञान के अनुसार मानव जीवन और समाज को ऐतिहासिक व्याख्या करते हैं। इसी व्याख्या के अनुसार वे भविष्य में मनुष्य समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। वे ग्राम्या में कहते हैं :—

हो धरणि जनों की जगत् स्वर्ग जीवन का घर।
नव मानव को दो प्रभु, भव मानवता का वर॥

पन्तजी की विचारधाराओं और प्रमुख प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय पूरा करने के लिए उनका लौकिक परिचय भी जानना आवश्यक है। उनका जन्म अल्मोड़ा जिले के कौसानी गाँव में संवत् १९५८ (२४ मई सन् १९००) में हुआ। ध्यान देने योग्य बातें दो हैं। वे कूर्मांचल प्रदेश की प्राकृतिक रमणीयता में उत्पन्न हुए हैं। यहीं से इन्हें प्रकृति प्रेम मिला है और द्विवेदी काल की इह लोक प्रधान कविता में उनका बचपन बीता है और प्रथम महायुद्ध की परवर्ती प्रवृत्तियों के साथ ही उनकी प्रतिभा का कंठ फूटा है। छाया वादी युग के वे सबसे भोले और सुन्दर शिशु हैं। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी के कवियों का विशेष अध्ययन किया है। उनके युग में विवेकानंद, रामतीर्थ और रवीन्द्र के साहित्य की धूम थी। इनका भी कवि पर पूरा प्रभाव पड़ा है। परवर्ती काल में प्रगतिवादी दृष्टिकोण का प्रचार हुआ। उसका भी कवि ने अच्छा मनन किया है। प्रगतिवादी आवरण में भारतीय परंपरा की योगधारा भी अभिनव संस्कृति का निर्माण कर रही है। उदाहरण के लिए श्री अरविन्द। पन्त जी उसका भी मनन और चिन्तन करते रहते हैं। इस प्रकार यह गायक इस युग का अध्ययन शील, और उत्तरोत्तर प्रगति करने वाला पुरुष है। उसका जीवन समाज और

आश्रम दोनों के अनुभवों से सरस हो उठा है। और स्वयं कवि हिन्दी पाठकों और दर्शकों के लिए एक आकर्षण की मूर्ति है।

निर्णयवादी आलोचना की दृष्टि सदा दुहरी होती है। स्वयं कवि के आलोचना संबंधी विचारों को ध्यान में रखकर मूल्यांकन करने की दृष्टि एक होती है और आलोचक विशेष का मान दण्ड लेकर निर्णय करने की दृष्टि दूसरी। स्वय पंतजी के आदर्श के अनुसार कविता की वस्तु उपयोगी और बुद्धि प्रधान होनी चाहिए। उसमें प्रेरणा और कल्पना रहना चाहिए पर कोरी भावुकता स्वास्थ्य कर नहीं होती। इसी प्रकार वे प्रकृति प्रेम को भी काव्य में उत्तम स्थान नहीं देते। शैली की दृष्टि से भी वे छन्द अलंकार आदि के बंधनों को ऊँची कविता के लिए अच्छा नहीं मानते। वे भाषा के सहज संगीत और अनायास प्रवाह को ही शैली का प्राण मानते हैं क्योंकि मानव स्वभाव और मानव आदर्श वाणी द्वारा प्रकट होने पर असुंदर को भी सुंदर बना देते हैं।

भारतीय परंपरा का आलोचक पंतजी के स्वतंत्र विचारों में अपनी मीमांसा पद्धति की झलक देखता है। भारत में कविता उत्तम तभी होती है जब उसकी वस्तु मानव जीवन का परम सत्य हो—श्रेय और प्रेय का समन्वय हो। कोरी ऐन्द्रिकता और ऐहलौकिक भावना उच्च काव्य में कोई महत्व नहीं रखती। इसी प्रकार शैली तो काव्यात्मा का बाहरी विकास है। इस प्रकार पन्तजी की कविता ने पहले पश्चिमी काव्य का पूरा आकर्षण हिन्दी भाषा में सामने रखा पर अन्त में उनकी प्रतिभा ने उन्हें वहीं पहुँचा दिया जहा भारत की आलोचना बुद्धि ने काव्य की मुख्य सीमा स्थिर की है। इस प्रकार स्थिर निर्णय यही होता है कि पंतजी आधुनिक युग के बड़े कवि हैं।

उनके संबंध में एक बात सदा स्मरण रखना चाहिए कि वे आधुनिक युग के कवि हैं। इनके छायावाद और प्रगतिवाद दोनों में ऐहलौकिक अनुभव ही मूलबिन्दु है। अतः सब बातों में एक सा लगने पर भी

उनका छायावाद और सांस्कृतिक पक्ष प्रसाद की मूल बातों से सर्वथा भिन्न देख पड़ता है। उनकी मानवता की कल्पना भी प्रसाद की अभिनव मानवता से स्पष्ट रूप से भिन्न है।

इसी प्रकार पन्त ने प्रकृति को नारीरूप में चित्रित किया है। प्रसाद ने भी प्रकृति सुंदरी के अपार वैभव का चित्रण किया है पर दोनों के दृष्टि कोणों में भेद है। पन्त जी ने प्रकृति को कभी बाहरी दृश्य के रूप में अंकित किया, कभी उसका मानवीकरण किया और कभी प्रकृति का अंतर्मुखी चित्र सामने रखा पर थी वह सदा भौतिक प्रकृति ही। प्रसादजी ने प्रकृति में सदा चेतन मानव का स्वरूप देखा इसी लिए उनकी प्रकृति में आध्यात्मिक प्रकृति और भौतिक प्रकृति दोनों का समन्वय है, एक ही चित्र में दो का सौन्दर्य है।

सुमित्रानंदन पंत

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना, रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहङ्गिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी - से जुगनू नाना ;

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना ;

स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास - शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना ;

कूक उठी सहसा तरु - वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अन्ध - गर्भ से
छाया - तन वहु छायाहीन
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना - माना ;

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्रम हीन
कमल क्रोड़ में बन्दी था अलि
कोक शोक से दीवाना ;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना ;

तूने ही पहिले वहु दर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि !
गूँथ दिया ताना बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत - जाल में
धर कर नाम - रूप नाना

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना ;

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि डोले मधु बाल,
स्पन्दन, कम्पन औ नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ, हे बाल विहङ्गिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

सुख-दुख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख;
सुख दुख की खेल मिचौनी,
खोले जीवन अपना मुख।
सुख दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति-सुख से;
मानव जग में बँट जावें,
दुख सुख से औ सुख दुख से।
अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख सुख की निशा दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन।
यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिङ्गन विरह मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन,
रे इस मानव जीवन का!

उर की डाली

देखूँ सब के उर की डाली !
किसने रे क्या क्या चुने फूल,
जग के छवि उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल !
किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव !
किसने ली पिक की विरह-तान ?
किसने मधुकर का मिलन गान ?
या फुल्ल-कुसुम या मुकुल-म्लान ?
देखूँ सबके उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण-फूल,
सब में कुछ दुख के करुण-शूल;
सुख-दुःख न कोई सका भूल !

दो लड़के :—

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर),
दो छोटे से लड़के आ जाते हैं अक्सर।
नंगे तन, गदबदे साँवले सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले,-पर फुर्तीले।
जल्दी से, टीले के नीचे, उधर, उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली।
मासिक पत्रों के कवरों की; औ बन्दर से,
किलकारी भरते हैं, खुश हो हो अन्दर से।
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल,
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल।
सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।
मानव के बच्चे हैं ये पासी के बच्चे,
रोम रोम मानव साँचे में ढाले सच्चे।
अस्थि-माँस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह—वह सूक्ष्म अनश्वर।
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर,
जग का अधिकारी है वह जो है दुर्बल तर।
वह्नि, बाढ़, उल्का, झञ्झा की भीषण भू पर,
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर।

निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवितजन,
मानव को चाहिये यहाँ मनुजोचित साधन।
क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर,
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर!
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने, मानव हित निश्चय।
जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहां सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हो पूरित।
मनुज प्रेम से जहां रह सकें,—मानव ईश्वर।
और कौन सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर!

टिप्पणी

कबीर

[१]

शब्दार्थ—रात्यूं = अनुरक्त। रूनी=रोई। बंचौ=वंचथः = कोयल। कुंझ = कूज् = क्रंदन।

अर्थ—अनुरक्त विरहिणी इस प्रकार रो उठी, जैसे कोयल का क्रंदन। जब उसका अंतर (हृदय) प्रज्वलित हो उठा, तब उसका विरह बाहर इस क्रंदन के रूप में प्रकट हो गया।

[२]

शब्दार्थ—अंबर = आकाश। कुंझां = कुज् – कूज् = क्रंदन या क्रंदन से भर देना। कुरलियाँ = कुरली का बहुवचन; कुरली = कुरलः का स्त्रीलिंग; कुरल = एक पक्षी, साधारणतया कुररी के नाम से प्रसिद्ध। इसका करुण क्रंदन साहित्य प्रसिद्ध है। जटायु ने सीता हरण की सूचना देते हुए राम से कहा है—

लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं
बिलपति अति कुररी की नाईं

अर्थ—(विरहिणी) कुररियों ने आकाश को क्रंदन से भर दिया और गर्जन (क्रंदन) के साथ जो अश्रु धारा बह निकली उससे सभी ताल जलमय हो गये। जब साधारण प्रेमी पक्षियों की यह हालत है फिर उन लोगों की क्या दशा होगी जो परमप्रिय गोविंद से बिछुड़ गए हैं।

[३]

चकवी अपने चकवे से रात्रि में बिछुड़ जाती है, परंतु प्रभात होते ही वह उससे पुनः मिल जाती है, किंतु जो लोग राम से बिछुड़ गए हैं वे उनसे न तो दिन में ही मिल पाते हैं और न रात्रि ही में। उनकी दशा साधारण पशु पक्षियों से भी गई गुजरी है। उनके लिए कोई आशा नहीं।

[४]

राम से बिछुड़ जाने पर न तो दिन में सुख मिलता है न रात में; न स्वप्न में, न धूप में, न छाया में, कहीं भी नहीं, किसी भी समय नहीं।

[५]

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी। पंथ सिरि = पंथ के सिरे पर; रास्ते के किनारे। बूझै = पूछै = पूछती है। कबरे = कब रे।

अर्थ—मार्ग के सिरे पर खड़ी विरहिणी दौड़ दौड़ कर पथिकों से पूछती है—'प्रिय के विषय में केवल एक शब्द कहो' वे कब आकर मिलेंगे 'अभी' 'आज' 'कल' या 'कब ?'

[६]

शब्दार्थ—जोवती = जोहती, प्रतीक्षा करती। जिव = जी = प्राण। मनि = मन में।

अर्थ—हे राम, बहुत दिनों से तुम्हारी राह देख रही हूँ। जी तुमसे मिलने के लिए तरस रहा है, मन में शांति नहीं है। बड़ी बेचैनी है।

[७]

ऊठै = उकठै = शुष्क होना, जैसे पेड़ ठकठ जाता है, सूखकर काठ हो जाता है। (२) ऊठै = जब विरहिणी उठती है तो भय लगता है अर्थात् वह मृतकवत् हो गई है।

अर्थ—हे राम तुम्हारे दर्शन के लिए विरहिणी उकटती जाती है, निरंतर सूखती जाती है। यदि मर जाने के बाद तुमने दर्शन दिया ही तो वह किस काम का। जिस प्रकार उकठा पेड़ पुनः हरा नहीं हो सकता,

उसी प्रकार मृत्यु पश्चात् तुम्हारे दर्शन का आनंद विरहिणी नहीं ले सकती।

[८]

हे राम मरने के बाद मत मिलो, यदि मिलना हो तो जीतेजी मिल लो। हे पत्थर (पारस) जब सब का सब लोहा समाप्त हो जायगा, घट जायगा, तब तुम्हारा पारसत्व किस काम आएगा। जब तुम्हारे स्पर्श से प्रखर-कांति हो जाने को क्षमता ही मुझमें न रह जायगी, तब तुम्हारे उस दर्शन की उपयोगिता ही क्या रहेगी ?

[९]

संदेश कहलाने से मेरे मन में अंदेशा दूर नहीं हो रहा है, या तो वे हरि स्वय दौड़े हुए आएँ और मेरा संदेह दूर करें या मैं स्वयं हरि के पास चला जाऊँ और अपनी शंका निवारण करूँ। घनानद ने भी कहा है—

'पयोद मोद छाइए विनोद को बढ़ाइए
विलंब छाड़ि आइए, किंधो बुलाय लीजिए।'

[१०]

हे राम, न तो मैं तुम्हारे पास आ सकता हूँ और न तुम्हें ही अपने पास बुला सकता हूँ। क्या इसी प्रकार विरह में तपा-तपाकर—जला-जलाकर मेरे प्राण ले लोगे ?

[११]

मसि = स्याही, काजल। ज्यूँ=जिससे। सरगि = स्वर्ग। मति=शायद। Under the impression that. (२) मति = मत, नहीं।

इस शरीर को जलाकर स्याह कर दूँ जिससे धुवाँ उठकर स्वर्ग तक पहुँच जाय। शायद स्वर्ग-स्थित वे राम मेरे ऊपर दया कर दें और दर्शन की वर्षा कर मेरी विरहाग्नि बुझा दें।

[१२]

करंक = कंकाल, खोपड़ी कोई भी हड्डी।

इस शरीर को (विरहाग्नि में) जलाकर स्याही बना लूं, हड्डियों से लेखनी का काम लूँ और राम का नाम लिखूँ—बार बार लिखकर स्वयं राम के पास भेजूं। शायद मेरी इस व्यथा की कथा से द्रवित हो जायँ।

[१३]

पंजर = पसली, कंकाल, शरीर। ज = जो।

पीड़ा अत्यंत कष्ट दायिनी होती है, पसलियों से दूर नहीं होती। परंतु एक जो प्रीति की पीड़ा है, वह और भी कठिन होती है, वह तो कलेजे पर छाई रहती है।

[१४]

सतांधी = सताई हुई। जरजर = जर्जर, जीर्ण, शिखिल, विरह की चोट से सताया हुआ शरीर पूर्ण रूप से जर्जर हो गया है। इस चोट को या तो मारने वाला जानेगा या जिसको यह लगी है। कोई तीसरा इस पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकता।

[१५]

सांधि कर = संधान कर। माँहि = (हृदय) में। सुमार = काम देव सुमार = अच्छी मार हाथ में धनुष लेकर, उस पर शर संधान कर, खूब खींचकर मेरे प्रिय ने जो बाण मेरे हृदय में मारा है, वह कामदेव (सा प्रिय) बन कर भली भाँति भीतर भिद गया है। अब आशंका हो रही है यह प्राण बचेगा भी अथवा नहीं।

[१६]

मरम्म = मर्म,

जब मेरे प्रिय ने प्रत्यंचा पूर्ण रूपेण खींचकर शर-प्रहार किया, तब मुझे ज्ञात हुआ। मर्मभेदी चोट मुझे लगी जो केवल हृदय को छोड़ तन मन सब नष्ट कर गई।

[१७]

जिहि सरि = जिस शर से। सर = शर, बाण। सच = सुख।

जिस शर से तुमने मुझे कल मारा था, वह शर मेरे मन में बस गया है। उसी शर से आज भी (अब भी) मारो, बिना उस शर के मुझे चैन नहीं मिल रहा है।

[१८]

भुवंगम = भुजंगम, सर्प।

विरह रूपी साँप (का विष) मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गया है, कोई भी मंत्र कारगर नहीं हो रहा है। राम का वियोगी पहले तो बचता नहीं; यदि जी भी जाता है तो बावला हो जाता है।

[१९]

पैसि करि = प्रविष्ट हो कर।

विरह रूपी सर्प ने शरीर में प्रविष्ट हो कर कलेजे में घाव कर दिया, परंतु साधु अंग नहीं मोड़ता, पीड़ा से व्याकुल होकर शरीर को नहीं सिकोड़ लेता (खींच लेता)। जिस प्रकार चाहे, वह विरह-भुजगम उसे खाए, उसे पूरी छूट है। साधु को इसी में सुख मिलता है। भक्त भगवान के विरह की निरंतर अनुभूति करना चाहता है।

[२०]

सब रँग = सब प्रकार से। तंत = तंत्र, चमड़े का तार, रबाब = एक प्रकार का तार वाला बाजा। साईं = स्वामी।

शरीर रूपी रबाब की ताँत को विरह नित्य बजाता रहता है इस ध्वनि को या तो स्वामी सुन पाता है अथवा मेरा चित्त। कोई तीसरा इसे नहीं सुन पाता।

[२१]

विरहा बुरहा = विरह। दूसरा शब्द उसी प्रकार है जैसे लोटा ओटा, रोटी ओटी, पानी वानी आदि शब्द युग्मों का प्रयोग।

सुलितान = सुलतान, बादशाह, राजा। घटि = घट में, शरीर में। संचरै = सचार करता है। मसान = श्मशान।

विरह की निन्दा मत करो, विरह सुलतान है। जिस शरीर में विरह का संचार न हुआ, उसे सर्वदा श्मशान समझो। जिस शरीर में राम का विरह नहीं व्याप्तहुआ, वह मृतक तुल्य है।

[२२]

अंखड़ियाँ = आंखों में। जीभड़ियाँ = जीभ में, जिह्वा में। झाँई = पर्दा

रास्ता देखते देखते आँखों में झाई पड़ गई—पर्दा पड़ गया, फलतः अब कुछ दिखाई नहीं देता; हे राम, तुम्हारा नाम रटते रटते जिह्वा में छाले पड़ गए, अब तुम्हारा नाम भी नहीं लिया जाता।

[२३]

दीवा = दीपक। लोही = लोहू से

इस शरीर को मैं दीपक बनाऊँगा, उसमें प्राणों को बत्ती मिलाऊँगा, फिर उसे तेल के समान लोहू से सींचूंगा—देखें (इस प्रकाश में ही सही) मेरे प्रिय का मुख कब दिखाई पड़ता है।

[२४]

नीझर = निर्झर ।

(हे राम, तुम्हारे विरह में) नेत्रों से निर्झर झर रहा है, रातदिन रहट के समान ये निरंतर बहते रहते हैं। नेत्रों की तो यह दशा है और रही जिह्वा, उससे पपीहे के समान सर्वदा 'पी' 'पी' करती रहती हूँद हे राम। कब मिलोगे। कब दर्शन देकर कृतार्थ करोगे ?

[२५]

कसाइयाँ = [कसाय (सं०)] लाल रंग, गहरा लाल रंग जाँणै = जानते हैं। रतड़ियाँ = रक्तिम

मेरी आँखें प्रेम से गहरी लाल हो गई हैं—लोग समझते हैं कि वे दूख रही हैं, आ गई हैं। (सत्य तो यह है कि) अपने स्वामी के कारण वे रो रोकर रक्त वर्ण हो गई हैं।

[२६]

विड़ाहि = विड़ = विट्, घूर्त

वही आँसू सज्जन की आँखों में होते हैं, वही लोक बिगाड़ने वाले धूर्तों की आँखों में भी। यदि लोचनों से लोहू चुए, तो मैं मान लूँ कि हृदय में प्रेम है।

[२७]

हसाना = हँसना। रोवत = रोना

हँसना दूर करो, हँसो मत। रोने से चित्त लगाओ, खूब रोओ। बिना रोये हुए ही प्रेम प्यारा मित्र कैसे मिलेगा ? यदि प्रेम के कारण प्यारे मित्र को प्राप्त करना चाहते हो तो उसके विरह में रोओ, हँसने से वह नहीं मिलने का।

[२८]

जौ = यदि। विसूरणा = शोच करना; दुखी होना

यदि रोता हूं तो बल घटता है, शक्ति क्षीण होती है। यदि हँसता

हूँ तो मेरा राम रिसा जाता है, रुष्ट हो जाता है। इसलिए मैं मन ही मन—भीतर ही भीतर – अत्यंत सोच में पड़ गया हूँ उसी प्रकार जिस प्रकार घुन भीतर ही भीतर काठ को खा जाता है।

[२९]

दुहागिन = पति सौभाग्यहीन, सुहागिन का उलटा

हँस हँसकर किसी ने भी कांन—प्रिय—को नहीं प्राप्त किया है; जिस किसी ने भी प्राप्त किया है, रो कर ही। यदि हँसते हँसते हरि मिल जाते तो कोई भी दुखिया न रह जाता।

[३०]

शाण, लोहे का वह गोल चक्का है जिस पर छुरी आदि पर धार चढ़ाई जाती है।

यदि हँसी खेल में—हँसते खेलते यों ही बिना कष्ट उठाए, हरि मिल जायँ तो किसे पड़ी है कि शाण की प्रखर धार पर चढ़े और व्यर्थ कष्ट झेले। जो काम क्रोध और तृष्णा को त्याग देता है, भगवान उसीको मिलते हैं, दूसरे को नहीं।

[३१]

गौंहनि = (सं० गोहः—शरण स्थल, छिपने की जगह; गोहन = = शरण

पुत्र प्यारे पिता की शरण में दौड़कर जा लगा, किंतु पिता ने पुत्र के हाथ में लोभ रूपी मिठाई दे दी, फलतः वह पुत्र अपने (पिता) को भूल गया।

हम सांसारिकजन परमात्मा की ओर दौड़ते है, पर लोभ हमारा पैर पीछे खींच लेता है, हम परमात्मा को भूल उसी में लीन हो जाते हैं।

[३२]

उपाइ = उपजाइ, उत्पन्न कर। अंतरि = अंतर में, हृदय में। रोस = क्रोध।

[यह साखी पूर्ववर्ती साखी से संबद्ध है।]

पिता लोभ की मिठाई बच्चे को दे देता है, मूर्ख बच्चे तो उसी मिठाई में लुब्ध हो जाते हैं किन्तु जो चतुर हैं वे अपने हृदय में लोभ के प्रति रोष उत्पन्न कर, रुष्ट होकर उस खांड़ की मिठाई को पटक देते हैं और रोते-रोते जाकर अपने प्यारे पिता से मिल जाते हैं।

साधु लोभ से बचकर परम पिता की शरण में पहुँच जाते हैं।

[३३]

आचरूँ=(सं० आचर्)=अभ्यास करना।

मैं निशदिन तुम्हें अपने नेत्रों में देखने का अभ्यास करता हूँ—आँखें मूँदकर तुम्हारा ध्यान करता हूँ। हे हरि! मुझे कब दर्शन दोगे? वह शुभ दिन मेरे पास आवे।

[३४]

देखते=देखते देखते, प्रतीक्षा करते। तलपै=तड़पता है। माइ=माई (व्रजभाषा)=सखी।

माई री वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै, न जैहै, न जैहै।

रास्ता देखते देखते, प्रतीक्षा करते करते, बेचारी विरहिणी का दिन बीत गया, रात्रि भी योंही बीतती जा रही है। विरहिणी ने प्रिय को नहीं पाया। हे सखी, उसका जी तड़प रहा है, उसे बड़ी बेचैनी है।

[३५]

मींच=मृत्यु। आपा=अपनापन। दाझणाँ=दग्ध होना।

या तो मुझ विरहिणी को मृत्यु दो अथवा अपना दर्शन दो। यह आठों पहर का जलना मुझसे नहीं सहा जायगा। तुम्हारे दर्शन हों अथवा मेरी मौत हो, हर हालत में इसका अंत हो जायगा।

[३६]

नालि=लिए।

गहेलड़ी=गर्वीली।

यदि तू विरहिणी थी, तो क्यों जीवित रही, अपने स्वामी के लिए साथ ही चिता पर बैठकर क्यों न जल मरी। ऐ गर्विणी मुग्धे ! ठहर, प्रेम को इस प्रकार लज्जित न कर। अथवा प्रेम कोई 'लज्जा की मार' अर्थात् सुख सुहाग की वस्तु नहीं है। वह वेदना का पथ है।

[३७]

मैं विरह की (गीली) लकड़ी हूँ और समझ-समझकर धुँआ देते हुए धीरे धीरे करके जल रही हूँ। यदि सारी की सारी जल जाऊँगी तो इस विरह से छुटकारा मिल जायगा, जो मुझे अभीष्ट नहीं।

[३८]

विरहाग्नि से मेरा तन मन इस प्रकार जल गया है। मृतक होने की अर्थात् मृत्यु की पीड़ा का इन्हें अनुभव नहीं हो सकता। इस विरहाग्नि को ही मृत्यु का ज्ञान होगा। मेरे जीवन में विरहाग्नि के अतिरिक्त और कुछ शेष है ही नही !

[३९]

जलहरि = जलशय, तालाब।

हे संतो, विरह की जलाई हुई मै जल रही हूँ, जलती हुई मैं जलाशय के पास जा रही हूँ। यदि मुझे देखते ही स्वयं जलाशय भी जलने लगे, तो मैं अपनी यह जलन और कहाँ बुझाऊँ।

विरहाग्नि की प्रखरता यहाँ दिखाई गई है जिसे स्वयं जलहरि भी शीतल नहीं कर पाता, बल्कि जल उठता है।

[४०]

मै पर्वत पर्वत फिर आया, रो रोकर नेत्रों की ज्योति गँवा दी ; किंतु वह बूटी नहीं मिली, जिससे जीवन मिलता है। मुझे वह संजीवनी बूटी चाहिए।

[४१]

पुटोला = पाटंवर, रेशमी वस्त्र। धज = टुकड़ा। धज करौं = धज्जी धज्जी उड़ा देना, टुकड़े टुकड़े कर देना। कामलड़ी = कमरी, कम्मल।

मसृण पाटम्बर को फाड़कर उसकी धज्जी धज्जी उड़ा दूँ और जड़ने वाली काली कमरी पहन लूँ—ऐसा करने में मुझे तनिक भी दुःख न होगा। जिस जिस भेष से हरि मिलें, मैं वे सभी भेष धारण करने के लिये तत्पर हूँ।

[४२]

जलि = जल में; लोढ़े = लोढ़ना, पुष्प चयन।

हमारे नेत्र तुम्हें चयन करने के लिये क्षण क्षण जल में अग्रसर होते गये, किंतु (हे कमल!) तू न मिला, फलतः मैं प्रसन्न न हो सका—मुझे ऐसी वेदना है, कुछ कुछ ऐसी वेदना है।

[४३]

भेला = सर्प। गहौं = ग्रहण करना, पकड़े रहना।

बहुत परिश्रम से इस भवसागर में (विरह रूपी) सर्प मुझे मिला है, यदि इसे छोड़ देता हूं, तो डूब जाऊँगा और यदि नहीं छोड़ता, ग्रहण किए रहता हूं तो यह बाँह को ही डस लेता है, काट खाता है।

[४४]

देसी = देगा (सार०)। दृश्य = दिखाई देना।

हे वियोगी! साधना की रात्रि लंबी है, हे शंख (मूर्ख) चुपरह, सूर्य उदय होने पर तू मंदिरों में दहाड़ता (बजता) दिखाई पड़ेगा।

[४५]

सारा संसार सुखी है, भरपेट खाता है, भर नींद सोता है। किंतु कबीर जागता रहता है, रात में उसे नींद नहीं आती और निरंतर रात दिन रोता रहता है।

प्रसाद

'महाकवि तुलसीदास'

यह चतुर्दशपदी सर्वप्रथम १९२३ ई० में गोस्वामी तुलसीदास के त्रिशताब्दिक श्राद्ध के अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रथावली तृतीय भाग में संकलित हुई। फिर यह 'कानन कुसुम' के तृतीय संस्करण में संकलित की गयी। 'कानन कुसुम' की भूमिका के अनुसार इसमें १९१७ ई० तक की ही रचनायें संकलित हैं, इसलिए यह १९१७ के पहले की रचना है। अनुमानतः यह १९१३-१४ की कृति है। और संभवतः नागरी प्रचारिणी सभा में मनाई गई किसी तुलसी जयंती के अवसर पर पढ़ी भी गई होगी। रचना काल के इस निर्णय में दो बातें सहायक हैं—पहले तो इसकी अभिव्यजना प्रणाली द्विवेदी कालीन है और इस प्रणाली का प्रभाव प्रसाद जी पर १९१४ के बाद बिलकुल ही नहीं रह गया था। दूसरे इस प्रणाली की एक रचना 'रमणी हृदय' जनवरी १४ के इंदु में प्रकाशित हुई। उसी पदे पर चलने वाली यह रचना भी इसी समय के आगे पीछे कभी लिखी गई होगी या (अगस्त १३ या अगस्त १४ में)। प्रसाद जी ने भारतेंदु जी की दो प्रशस्तियाँ लिखी हैं (१) भारतेंदु हरिश्चन्द नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्राचीन संस्करण, भाग १७, संख्या ३, सितंबर ३, १९१२ तथा (२) भारतेंदु प्रकाश (चित्राधार) इंदु कला ३ किरण १, आश्विन ६८ (सितंबर १९११)। तुलसी की यह प्रशस्ति भारतेंदु की प्रशस्तियों से प्रौढ़तर है, इसलिए इसका रचना काल १९१३ से पहले नहीं हो सकता।

इस रचना का सबसे बड़ा गुण है इसकी स्पष्टता, सरलता एवं अर्थ गंभीरता। एक होने वाला महाकवि, एक गत महाकवि के विषय में क्या विचार रखता है, यह भी यहाँ दर्शनीय है। इस कविता में प्रशंसा का कोरा शब्द-जाल नहीं है, गोस्वामी तुलसीदास जी की समस्त विशेषताओं का यहाँ उल्लेख हो गया है। भाषा चित्रमय नहीं है, द्विवेदीयुगीन ही है।

इस चतुर्दशपदी में कवि ने दिखाया है कि तुलसीदास जी ने अखिल विश्व में रमे हुये राम की शुभ सत्ता का अनुभव किया था और राम को मानवरूप में अंकित किया है। राम नाम का महत्व उन्हों ने प्रतिपादित किया। दीन होते हुए भी चिंतामणि वितरित की। भक्ति से संताप शमन किया। वे प्रभु के निर्भय सेवक एव अपने स्वामी थे। वे पूर्णरूपेण जग चुके थे फलतः विश्व उनके लिए स्वप्नवत् था। प्रभु की प्रभुता के प्रबल प्रचारक थे और उन्हों ने राम को छोड़ कर किसी दूसरे की कभी भी आशा नहीं की।

स्वभाव

यह रचना सर्वप्रथम इंदु मार्च १९१५ (वर्ष ६, खंड १, अंक ३) में प्रकाशित हुई। इंदु में यह चतुर्दशपदी रूप से प्रकाशित हुई थी, किंतु अब इसकी १३ वीं, १४ वीं, पंक्तियाँ ये हैं—

चंचल हृदय हमारा केवल खेल था
मेरी जीवन मरण समस्या हो गई

और इसमें १४ के स्थान पर १६ पंक्तियाँ हो गयी है।

मै तो तुमसे सदैव दूर हटा रहता था, तुमसे मिलना भी नहीं चाहता था, तुमसे मेरी कभी की जान पहचान भी नहीं थी, मेरे हृदय में मिलने का आवेग भी न था—परंतु तुमने स्वयं मुझसे अपने को परिचित कराया—अपना अतुल सौंदर्य दिखलाकर मेरे सरल हृदय को अपनी ओर मिला लिया। वह तुमसे इस प्रकार मिल गया जिस प्रकार दूध पानी से

मिलता है। अब ऐसी क्या बात हो गयी है जो इस मिश्रण को कपट की खटाई डालकर फाड़ देना चाहते हो? मैं मेघ सदृश जल पूर्ण था, तुमने अपने रूप की कुछ ऐसी हवा चलाई कि मैं बरस पड़ा। अपना सारा प्रेमजल देकर मैं शून्य हृदय, रिक्त, हो गया हूँ। परन्तु तुम पुलकित न हुए। उलटे मरुभूमि के समान सब कुछ सोख लिया। क्या तुमसे यही आशा थी? मैं जिस बात से डरता था, अंत में वही हुई। तुमने अपना स्वभाव प्रकट कर दिया। इसकी भाषा अत्यंत सरल है, छायावादी काव्य में इस रचना के द्वारा प्रतीक का प्रयोग प्रारम्भ होता है—प्रसाद ने मेघ का जो अप्रस्तुत विधान किया है वह अत्यंत उपयुक्त एवं सर्वग्राह्य है। अंतिम पंक्ति में 'कभी न कभी' दो टुकड़ों में बट गया है, जो सुंदर नहीं हुआ है।

खोलो द्वार

यह चतुर्दशपदी इन्दु वर्ष ५ खड १ किरण १ जनवरी १९१४ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई, फिर १९१८ में 'चित्राधार' प्रथम सस्करण के अंतर्गत 'कानन कुसुम' के द्वितीय संस्करण में इसे स्थान मिला, तदनंतर यह 'झरना' के, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण में संकलित हुई। अब यह कानन कुसुम एव झरना दोनों में उपलब्ध है। प्रसाद ने यत्र तत्र संशोधन भी कर दिया है। इन्दु में इसके फुट नोट में 'Sonnet के ढंग पर' छपा था। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जान-बूझकर एक नये काव्य-रूप का प्रयोग कर रहे थे। रायकृष्णदास जी ने इसकी जोड़ में एक कविता 'खुला द्वार' लिखी थी जो पहले 'इन्दु' में प्रकाशित, फिर उनके काव्य संग्रह 'भावुक' में संकलित हुई। यह १९१३ की रचना होनी चाहिए। 'खोलो द्वार' में छायावादी कविता के सभी गुण उपस्थित हैं। आचार्य शुक्ल ने इसे झरना के प्रथम संस्करण में न पा, इसका दर्शन द्वितीय संस्करण में पा इसे १९१५-२६ की रचना मान लिया था (शुक्ल जी का इतिहास)।

यह रचना रहस्यवाद का प्रबल स्वर लिए हुए हैं। आत्मा जीवन-रजनी की निराशांधकार घड़ियों से ऊबकर, अपने शोध-कार्य में असमर्थ होकर परमात्मा से अपना द्वार खोल देने का आकुल अनुनय करती हुई कह रही है—

'रात भर भीगने के कारण कमलिनी की सारी पंखड़ियाँ शिशिर कणों से लदी हुई हैं; पश्चिम का मारुत शीतलता का भार लेकर चल रहा है—हवा अत्यत शीतल है; रजनी रानी की तारक पुष्प ग्रथित

वह कबरी भी भींगी जा रही है। हे सूर्य, किरण रूपी हाथों से छूकर इन्हें कष्ठ-मुक्त करो।

मेरे पैरों में धूल लगी हुई है। पैर कांटों से छलनी हो गए हैं। अपार कष्ट है। किसी प्रकार भूला भटका तुम्हारे दरवाजे पर आ पहुँचा हूँ। तुम इतना न डरो कि मेरे धूल धूसरित पैरों से तुम्हारा द्वार मलिन हो जायगा। मैंने इन्हें अपने आँसुओं से अच्छी तरह धो डाला है।

प्रिय, मेरे धूलि लगे पैरों से इतनी घृणा मत करो—मै स्वयं धूलि-कण हूँ और मेरे समान अनेक धूलि-कण तुम्हारे चरणों की निरंतर आराधना करते ही रहते है, उनसे तुम्हारे इन निर्मल चरणों को अवकाश सभव नहीं। मैं तुम्हारे चरणों से लिपटकर ही परम पद प्राप्त कर लूँगा। जब एक बार तुम्हारे द्वार पर आ गया हूँ, फिर इसे छोड़कर वापस जाना संभव नहीं।

प्रियतम अपना द्वार खोल दो, तुम्हारा दर्शन पा मेरी भी "जीवन-रजनी का अपार दुख मिट जाय और सुप्रभात प्रकट हो।"

नीरद के प्रति

यह चतुर्दशपदी अजातशत्रु के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य के प्रारम्भ में है। विरुद्धक ने नीरद को संबोधन कर यह उक्ति कही है। विरुद्धक मल्लिका को प्रेम करता था, किन्तु मल्लिका अपने स्वामी, कोशल के सेनापति को परमपूज्य भाव से देखती थी, परम पतिव्रता थी। विरुद्धक की दाल न गली। उसने सेनापति को मार डाला। जहाँगीर ने भी नूरजहाँ की प्राप्ति के लिए यही किया। जहाँगीर को नूरजहाँ मिल गई पर विरुद्धक को मल्लिका नहीं मिली। राजनीति ने विरुद्धक को शैलेन्द्र डाकू बना दिया, वह युद्ध में घायल हुआ उसके बचने की कोई आशा न थी। इस दशा में मल्लिका युद्धभूमि से उसे उठा ले गई और उसकी ऐसी सुश्रूषा की कि वह बच

गया। किन्तु उस मूर्ख ने समझा कि मल्लिका ने पहले जो निष्ठुरता की थी, वह अब पिघल गयी है और संभवतः अब वह उसे प्यार करने लगी है। उसकी इस मनोभावना का चित्रण इस चतुर्दशपदी में हुआ है। यह एक प्रतीक प्रधान रचना है। नीरद निष्ठुर प्रिय का प्रतीक है, जो किन्हीं कारणों से अब सदय होता हुआ प्रतीत होता है। विरुद्धक नीरद को संबोधित कर कहता है—

हे नीरद, सम्भवतः किसी यक्ष ने तुम्हें अपना संदेश लेकर अपनी विरहिणी प्रिया यक्षिणी के पास अलका में भेजा था। वहाँ तुम उसकी पलकों का सहारा लेकर जो सुख से सो गए, सो सोए ही रह गए, इस दुनिया को तुम एकदम भूल गये। परंतु आज न जाने कौन ऐसी बात हो गयी जिससे तुम्हें इस दुनिया की याद आ गई और तुम अचानक बरस पड़े। तुम्हें सूखते हुए सरसिज कानन की याद तो नहीं आ गयी? उनका संकोच तो तुम्हें नहीं खींच ले आया? मुझे नहीं मालूम था कि जलद में भी इतनी (प्रेम) ज्वाला होती है। तुम झुके हुए क्यों हो? तुम्हें किसका सोच है? तुम्हारा निष्ठुर हृदय बर्फ के समान अभी तक जमा हुआ था, न जाने किस प्रेम की उष्णता से तुम पिघल उठे हो? तुम तो करुणा के जीवन हो, उसके प्राण हो। तुम्हारे अंतर में बिजली जो रह रहकर कौंध जाती है, वह तुम्हारे हृदय की व्याकुलता सूचित करती है। चातक के 'पी कहाँ' के रूप में तुम स्वयं करुण विलाप करते हो, आकाश के तारे तुम्हारे आँसू हैं, जिन्हें पोंछकर तुम वर्षा के रूप में स्वयं रोते दिखाई पड़ते हो। न जाने किस हृदयरूपी समुद्र में विरहरूपी बड़वानल जल रहा था, जिससे भाप बनकर प्रणयरूपी प्रभाकर की किरणों से आकाश में ऊपर चढ़कर, तुम इस अनंत को नाप रहे हो। किसकी समाधि पर जुगनू का दीप जलाकर, पुष्प और आलोक चढ़ाकर, आँसू बहाकर तुम यह शोक प्रकट कर रहे हो? किस अतीत प्रणय-पिपासा की स्मृति, चपला के समान तुम्हारे हृदय में जग गई

है जो तुम थके प्रवासी बनजारों के समान धीरे-धीरे लौटे चले आ रहे हो!

सीधे शब्दों में विरुद्धक कहता है—हे मल्लिका! अभी तक तुम सेनापति के प्रेम-बधन में पड़ी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है अब तुम्हें मेरा ध्यान हो आया है और तुम्हारा निष्ठुर हृदय मुझ पर द्रवित हो गया है। मेरे मानस-निधि में विरह का वड़वानल नहीं बुझा था, संभवतः उसी का यह प्रभाव है कि तुम्हें अतीत प्रणय की स्मृति हो आई है और तुम आज मेरे ऊपर इतनी सदय हो गई हो।

बहुत से लोगों का आरोप है कि प्रसादजी के नाटकों में आए हुए गीत भरती के हैं, ऊपर से ठूँस दिए गए हैं। पर उनका यह आरोप ठीक नहीं। प्रसाद के सभी गीत सप्रसंग हैं। उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि प्रसंग के बाहर कर देने पर भी उनमें स्वतन्त्र मुक्तकों की अनोखी कांति मिलती है। उनका यह गुण ही, इन आलोचकों के लिए सम्भवतः दोष हो गया है। स्वतंत्ररूप से ये गीत इतने सुंदर हैं कि ये आलोचक इन्हें प्रसंग में बिठा ही नहीं पाते।

यह चतुर्दशपदी नाटकगत है फलतः प्रसाद ने इसका शीर्षक नहीं दिया है। यह शीर्षक संपादक का दिया हुआ है।

स्वर्ण-संसार

सर्वप्रथम यह चतुर्दशपदी चांदके नवम्बर ३३ के वार्षिक विशेषांक में मुख पृष्ठ पर 'स्वर्ण-संसार' शीर्षक से प्रकाशित हुई फिर यह शीर्षकहीन होकर 'लहर' में संकलित हुई।

इस चतुर्दशपदी में एक अत्यंत कोमल स्वर्ण-संसार की कल्पना की गई है। प्रकृति का परम कोमल चित्र यहाँ अंकित हुआ है। यहां कवि कुछ पलायनवादी सा प्रतीत होता है। पर प्रत्येक के जीवन में एक समय

ऐसा अवश्य आता है जब वह एकांत की कामना करता है। इतना एकांत जहां और कोई न पहुँच सके।

मेरे जीवन में न जाने कहां से भूली भटकी दो दिनों के लिए बसंत ऋतु आ गई है। मैं अपने दुख के इस नए साथी के लिए एक नवीन नीड़ का निर्माण कर देना चाहता हूँ।

यह कुटिया सबसे अलग होगी—संसार के सबसे सूने कोने में—ऊपर अकाश होगा नीचे यह धरती। यह नीड़ सूखे तिनकों से नहीं निर्मित होगा। यह आशा के अंकुर और उसी के पल्लवों से तनेगा। मेरी यह कुटिया इतनी वैभव हीन होगी कि इससे कोई भी ईर्ष्या न करेगा।

सिहरन उत्पन्न करती हुई, काँपती हुई उषः कालीन मलयानिल की लहरें आवेगी। वे मेरे मानस के नयन-नलिन चूमकर जगा देंगी।

उस मेरी लघु प्राची में जवा कुसुम के अरुण पुष्प के समान अरुण ऊषा खिला करेगी। ऊषा के अरुण अधरों की लाली सारे दिन को रंग देगी।

दिवसावसान के पश्चात् रात्रि में चन्द्रमा अपनी कोमल किरणों से शीतलता बरसाएगा और ओस कणों को बिखेरकर जगती के ताप को हर लेगा।

मैं जो यह एकांत सृजन कर रहा हूँ—चाहता हूँ वह अबोध हो। मेरे पास जो कुछ सुन्दर कहे जाने योग्य है मैं वह सभी इसे दे देना चाहता हूँ मुझे कोई रोके नहीं।

शेरसिंह का शस्त्र समर्पण

ऐतिहासिक भूमिका—

रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों में कोई बहुत योग्य नेता नहीं हुआ और साम्राज्य तितर बितर हो गया। उनकी विधवा रानी मारी-मारी फिरी और अंत में उसे नेपाल में शरण मिली। इस विधवा रानी की करुण गाथा प्रेमचंद जी की 'जुगनू की चमक' नामक कहानी में, जो कि उनके 'नवनिधि' नामक संग्रह में संकलित है, अच्छी तरह अंकित हुई है। अंगरेजों ने धीरे धीरे पंजाब पर भी हाथ साफ किया। जहाँ उनकी वीरता नहीं काम करती थी, उनका उत्कोच काम कर जाता था। यही बात सिक्खयुद्ध में भी हुई। लालसिंह ने सिक्खों को धोका दिया। चिलियानवाला के युद्ध में गोला के स्थान पर उसने काठ के गोले रख दिये और बारूद के स्थान पर आटा—फलतः सिक्ख श्रीहीन हुए। प्रवंचकों ने सतलज तट पर गई हुई सिक्ख सेना को लौटने का रास्ता न दिया, पुल ही उड़ा दिया—सिक्खों के वृद्ध नेता श्यामसिंह ने यहीं अपनी इहलीला समाप्त की। अंत में सिक्खों के नेता शेरसिंह को शस्त्र समर्पण करना पड़ा। शस्त्र समर्पण करते हुए, शेरसिंह ने जो करुणोद्गार प्रकट किए हैं, उन्हीं का अंकन प्रसाद जी की कुशल लेखनी ने इस कविता में किया है।

छंदोविधान—

निराला द्वारा सर्व प्रथम प्रयुक्त मुक्त या स्वच्छंद छंद में प्रसाद जी ने इस कविता का विरचन किया है। यह कवित्त की प्रणाली पर चलता है और शास्त्रीय ढंग से हम इसे 'वर्णिक विषम' कह सकते हैं। इसका

नाद सौंदय अनूठा है। इस छंद के निर्माण के लिए कवित्त के उत्तरांश के कोई भी अंश एक चरण में रखे जा सकते हैं—यथा

'तन कारो मन कारो रंग कारो रूप कारो
परम न कारो यह कारो मधुकर है।'

—हरि औध।

इस एक चरण से मुक्त छंद निम्न अनेक चरण बन सकते हैं—

कर है
मधुकर है
कारो मधुकर है
यह कारो मधुकर है
नकारो यह कारो मधुकर है
परम नकारो यह कारो मधुकर है

इत्यादि।

इस छंद के निर्माण में संयुक्ताक्षरों से बचने की परम आवश्यकता है। इस छंद की रचना में निराला और प्रसाद को ही सफलता मिली है, अन्य लोगों ने असफल अनुकरण मात्र किया है।

काव्य-रूप—'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' तथा 'प्रलय की छाया' काव्यरूप की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखते हैं। इसमें एक पात्र नाटकीय ढंग से सारी बातें अपने आप कह जाता है। अँगरेजी में इस प्रकार के काव्य को ड्रेमेटिक मोनोलोग Dramatic monologue कहते हैं। अपने यहाँ भी एक प्रकार का नाटक इस प्रकार का होता है जिसे 'भाण' कहते हैं; पर यह गद्य में होता है—Dramatic monologue पद्य बद्ध होता है। भाण में एक ही अंक होता है—पात्र भी एक ही होता है—इसका रस हास्य होता है। Dramatic monologue के लिए रस का कोई बंधन नहीं; वह मुख्यतया

गमीर ही होता है। अँगरेज कवि ब्राउनिंग इस काव्य रस का सर्व श्रेष्ठ प्रयोक्ता माना जाता है।

भाषा—अन्य रचनाओं की भांति इसमें भी प्रसाद की काव्य भाषा अत्यंत निखरी, प्रौढ़, विशुद्ध तत्सम पदावली से परिपूर्ण है। कविता अन्त्यानुप्रास हीन है। विराम चिन्हों का प्रयोग अर्थानुसारी है। भाषा स्पष्ट एवं सरल है। कहीं भी छायावादी अस्पष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती।

आलोचना—'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' प्रसाद जी की अत्यंत सहज लघु रचनाओं में है। प्रसाद जी अतीत में विहार करने वाले थे। इनका अतीत प्रेम राष्ट्रीयता के कारण था। वे अतीत से संस्कृति के उन रत्नकणों को खोज लाते थे जिन्हें देख कर हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं। शेरसिंह भी उन्हीं रत्न कणों में से एक है।

अतीत के अतिरिक्त करुण प्रसाद जी का दूसरा प्रिय विषय है। सौभाग्य से इन दोनों का इस रचना में सफल समन्वय हो सका है।

टिप्पणियाँ

लालसिंह—सिक्खों का एक नेता, जिसने अंग्रेजों से मिलकर सिक्खों से छल किया, फलस्वरूप सिक्ख पराजित हुए।

कपिशा—अफगानिस्तान की एक नदी जिसके तट तक रणजीतसिंह ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

एक पुत्र वत्सला दुराशामयी विधवा—रणजीतसिंह की विधवा रानी जिसके पुत्र दिलीपसिंह को युद्ध के पश्चात् अँगरेजों ने विलायत भेज दिया था।

शतद्रु—सतलज

चिलियानवाला—पंजाब का एक स्थान जहाँ पर सिक्खों का अंतिम युद्ध हुआ, जिसमें प्रतारित सिक्ख पराजित हुए।

श्यामसिंह—सिक्खों का एक वृद्ध सरदार जिसने शतद्रुतट पर वीर गति पाई।

शेर पंचनद का प्रवीर रणजीतसिंह आज मरता है देखो--

वस्तुतः रणजीतसिंह पहले ही मर गए थे--पर उनके गौरव की रक्षा सिक्खों ने आज तक की थी--लालसिंह के छल से आज वह गौरव डूबा। अतः एक प्रकार से रणजीतसिंह की मृत्यु आज हुई, ऐसा कहा जा सकता है।

निराला

महाराज शिवाजी का पत्र

ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि—औरगजेब ने जब देखा कि दक्खिन के बादशाहों के शिवाजी को स्व वश करने के सारे उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए अफजल खान बघनखा का शिकार हुआ, तब उसने अपने मामा शाइस्ता खाँ को शिवाजी को शिकस्त एव पस्त करने करने के लिए भेजा पर शाइस्ता खाँ स्वयं मात खा गए। तब औरंगजेब ने कूटनीति का सहारा लिया और महाराज शिवाजी पर विजय प्राप्त करने के लिए जयपुर नरेश जयसिंहजी को भेजा। इसमें उसके दो उद्देश थे एक तो वह जानता था कि लोहा लोहे से कटता है, साथ ही वह हिंदुओं को परस्पर लड़ाकर मुगल राज्य को चिरकाल के लिए सुदृढ़ कर जाना चाहता था। इतिहासकरों के मत से शिवाजी ने औरंगजेब की इस कूटनीति का भंडाफोड़ करते हुए जयसिंहजी को एक नीतिपूर्ण पत्र लिखा था। इसी ऐतिहासिक घटना को आधार मानकर निरालाजी ने अपनी इस ओजपूर्ण रचना का विरचन किया है।

छंदोविधान—यह स्वच्छंद छंद है जिसे लोगों ने रबर एवं केंचुवा छंद भी कहा है। निरालाजी के अनुसार 'मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है। उसमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छंद का सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह है। वही उसे छंद सिद्ध करता है।'

जैसा कि निरालाजी ने संकेत किया है यह छंद कवित्त की लय पर चलता है। पंक्तियाँ भाव के अनुसार छोटी बड़ी होती रहती है। छंदो (Stanza) की चरण सख्या नियत नहीं, भाव के अनुसार लबी रचना अनुच्छेदों (Paragraph) में विभक्त है। प्राचीन शब्दावली में हम उसे 'वर्णिक विषम' छद कह सकते हैं। इसमें नाद सौंदर्य पर विशेष बल दिया जाता है। यह अंत्यानुप्रास हीन है।

इस प्रकार के छंद का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका के अंग्रेजी कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt whitman) ने अपने 'दूर्वादल' (Leaves of Grass) नामक काव्य ग्रन्थ में किया। निरालाजी ने वहीं से यह प्रणाली ग्रहण की। हिंदी में इस छंद के आविष्कार का श्रेय निरालाजी को ही है—'जुही की कली' उनकी इस छंद में पहली रचना है।

रूप—अंग्रेजी में पत्रकाव्यों (Epistle poetry) की भी परपरा है। अंग्रेजी के प्रभाव से हिंदी में भी कुछ रचनाएँ इस ढंग की हुई है। मैथिली बाबू की 'पत्रावली' इसी प्रकार की कृति है। निरालाजी की यह रचना भी पत्र काव्य का एक अत्यत सुदर उदाहरण है। पत्र काव्य के लिए यह मुक्त छंद सर्वाधिक उपयुक्त है। इसके उपयोग से पत्र की बहुत कुछ स्वाभाविकता रक्षित रह जाती है।

भाषा—महाराज शिवाजी का पत्र दिल्ली के बादशाह औरङ्गजेब के प्रसिद्ध दरबारी जयपुर के महाराज जयसिंह को लिखा गया है। इसलिए उर्दू शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग इसमें हुआ है तथा—आन बान-शान, शराबोर, खून, जानवर, हरगिज़, हम रकाब, दग़ाबाज़, खूब, मर्दानगी, गर (अगर), शेर मर्द, सेहरा, फ़तहयाब, याद, काफ़ी, ज़रा, शानदार, बहादुर, दाग़, तीर, गुलाम, कोशिश, मोग़ल, खाली, मैदान, हद, बरबाद, तदबीर, तुर्क, मौका, अस्तीन, खर्च, वक्त, हौसला, हिंदुस्तान, सुलतान आदि।

निरालाजी ने इस कविता में मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग किया है यथा—

(१) कालिमा कलंक की काला कर देगी मुख
(२) दाल है गली नहीं
(३) सेहरा समर का बाँध
(४) फूलों की सेज पर सोए हो
(५) लोहा तो अपने ही भाइयों से
(६) प्राप्त करे दूसरा ही
भाग मंयोग निज आँख दिखा,
(७) खेलोगे जान ले हथेली पर ?
(८) तदवीर और तलवार पर
पानी चढ़ावें खूब
(९) ईंट का जवाब हमें,
पत्थर से देना है
(१०) साँप आस्तीन का
(११) पस्त हौसला होगा

निराला जी की कविता होने के कारण संस्कृत के सरल तत्सम शब्दों का तो यहाँ प्राधान्य है ही। पत्रकाव्य होने के कारण भाषा कहीं भी जटिल नहीं हुई है।

आलोचना—'महाराज शिवाजी का पत्र' उन कविताओं में से है जो सोए राष्ट्र को जगा सकती है। हिंदू राष्ट्रीयता इसमें कूट कूट कर भरी हुई ।

इस कविता की दूसरी विशेषता है इसकी राजनीति। इसके देखने से स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी कितने बड़े नीतिज्ञ थे। सर्व प्रथम वे जयसिंह की प्रशंसा कर उन्हें अपने वश में लाने का प्रयत्न करते हुए बताते हैं—वंशज हो—चेतन अमल अंश।

हृदयाधिकारी रवि-कुल-मणि रघुनाथ के। तत्काल इस ऐसे उच्च कुलोद्भव से इतना हेय कार्य हो रहा है इसकी सूचना देते हैं—

किन्तु हाय! वीर राजपूतों की
गौरव-प्रलंब ग्रीवा
अवनत हो रही है आज तुम से महाराज,

फिर उनके हिंदुत्व को जागरूक करते हुए कहते हैं महाराज यह आप को यश नहीं मिल रहा है, अपयश मिल रहा है, कलंक की कालिमा है—

कीर्ति शोणिमा में यह
कालिमा कलंक की
दीखती है छिपी हुई –
काला कर देगी मुख।

× ×

दोनों लोक कहेंगे
होता तू जानदार
हिन्दुओं पर हरगिज तू
कर न सकता प्रहार।

तत्पश्चात वे लिखते हैं महाराज यदि आप अपने लिए विजय कामना कर आक्रमण करते तो सागरांबरा भूमि क्षत्रियों की जीत कर, विजय-सिंहासन श्री सौंपता ला तुम्हें मैं। परंतु आप औरंगजेब के लिए जय श्री लेने आए हैं यदि आप को हिंदू जान सन्धि कर लेता हूँ तो लोग कहेंगे डर कर मिला है' और यदि मैं तलवार लेता हूँ—

तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिंदुओं का, आप का ही।

आगे वे कहते हैं—औरंगजेब नर-राक्षस एवं दगाबाज है जब उसने देखा कि अफजल खाँ की दाल नहीं गली शाइस्ता खाँ भी

आकर हमारा कुछ न बिगाड़ सका। तब आपको भेजा है। इसमें भी उसका एक लक्ष्य है जिससे—

हिन्दुओं में बलवान्
एक भी न रह जाय।
लुप्त हो हमारी शक्ति।

साथ ही शिवाजी कहीं भी अपनी हीनता नहीं स्वीकार करते, वे कहते हैं—

जयसिंह सिंह हो तुम,
खेलो शिकार खूब हिरनों का,
याद रहे,
शेर कभी मारता नहीं है शेर,
केसरी
अन्य वन्य पशुओं का ही शिकार करता है।

वे उन्हें भारतीय स्वातंत्र्य-समर के लिए प्रेरित करते हुए लालच देते हैं—

शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग़
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे!
निजर हो जाओगे
अमर कहलाओगे।

उलटा-सीधा सब समझाते हुए कहते हैं कि औरंगजेब का विश्वास नहीं किया जा सकता। मुगलों से तुम्हारा संबंध हो गया है, पर उसी से तुम्हें अंधा भी न बन जाना चाहिए।

राक्षस वह, रखते हो
नीति का भरोसा तुम,

तृष्णा, स्वार्थ-साधना है जिसकी—
सोचो तुम,
शाहजहाँ से तुमने कैसा बर्ताव किया !

महाराज, यह समय आपस में लड़ने का नहीं है मुट्ठी-भर मुसलमान आतंक-राज्य स्थापित किए हुए हैं।

साँकले हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिंदुओं के पैर
हिंदुओं के काटता है सीस
हिंदुओं की तलवार से।

हम विशृंखल हैं—हम में भेद डाल हमारे शत्रु हम पर राज कर रहे हैं—इस समय आवश्यकता है कि आप मारवाड़ पति जसवत सिंह, चित्तौर के राणा राजसिंह से मिलकर एक नई शक्ति का सर्जन करें तो हिंदुओं की गई हुई कीर्ति पुनः वापस आ सकती है। आप लोग उत्तरापथ में औरंग को रंगहीन करें, तब तक मैं दक्षिण के इन मुसलमानों से निपट लूँ। फिर देखिए क्या होता है—

आएगी भाल पर
भारत की गई ज्योति,
हिंदुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के हाथ कट जायँगे।

प्रपात के प्रति

छंदोविधान—छंद की दृष्टि से 'परिमल' तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में सममात्रिक सान्त्यानुपास कविताएँ, जिनके लिए हिंदी के लक्षण-ग्रंथ के द्वारपाल को "प्रवेश-निषेध" या "भीतर जाने की सख्त मुमानियत है" कहने की जरूरत शायद न होगी। दूसरे खंड में विषम-मात्रिक सान्त्यानुपास कविताएँ हैं। तीसरे खंड में स्वच्छंद

छंद है।" 'प्रपात के प्रति' और 'धारा' परिमल के दूसरे खंड की रचनाएँ हैं। 'प्रपात के प्रति' में सोलह चरण हैं जिनमें मात्राएँ असमान हैं। शास्त्रीय ढंग से हम इसे मात्रिक विषम छंद कह सकते हैं।

भाषा—इस कविता की भाषा सरल है। प्रायः दैनिक व्यवहार के ही शब्दों का प्रयोग हुआ है। यद्यपि अधिकांश संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तथापि शब्द खोज खोजकर नहीं लाये गये हैं। यहाँ तक कि 'जरा', 'इशारा' जैसे दो उर्दू के शब्द भी निःसंकोच रूप से ग्रहीत हुए हैं।

विषय—जैसा कि शीर्षक मे स्पष्ट है कवि ने प्रपात को संबोधित कर यह रचना प्रस्तुत की है। किंतु इस रचना में निरे प्रपात का वर्णन नहीं है, वस्तुतः प्रपात जीवन का प्रतीक है। इस प्रकार इस रचना का दोनों दृष्टिकोणों से अर्थ समझ लेना समीचीन होगा।

(अ) प्रकृति के दृष्टिकोण से वाच्यार्थ—अपने पिता पर्वत के पेट को फाड़कर निकल आने वाले ऐ चचल एवं क्षुद्र प्रपात तुम इठलाते हुए अग्रसर होते हो। तुम चन्द्र के समान उज्ज्वल वर्ण हो फिर भी न जाने क्यों घने वन के अंधकार के साथ क्रीड़ा करना तुम्हें प्रिय है—हे उज्ज्वल इस अंधकार के साथ खेलने से तुम्हें क्या मिल जाता है तुम्हें तो उज्ज्वल का ही साथ देना चाहिए तुम्हें इस अंधकार से इतनी ममता क्यों है? तुम्हारा अभी लड़कपन है क्या इसीलिए अज्ञानवश तुम इस अंधकार से प्यार करने लगे हो अथवा गौतमबुद्ध के समान दीर्घ चिंतन के पश्चात् तुम साम्य सिद्धांत पर पहुँचे हो और इस सिद्धांत को कार्य रूप में परिणत कर रहे हो। जब तुम अपने पथ पर अग्रसर होते रहते हो, तुम्हारे पिता का कोई अबध पूत कई पत्थर तुम्हारा रास्ता रोक लेता है, तुम उससे टकरा जाते हो थोड़ी देर के लिए मुड़कर रुक जाते हो किंतु जब उसे पूर्ण रूप से पहचान लेते हो, उसकी मूर्खता का तुम्हें पूर्ण ज्ञान हो जाता है। तब तुम उसके ऊपर हँस देते हो, तुम्हारे अधरों पर कल-कल छल छल

करती हुई हँसी फूट पड़ती है। तुम तत्काल अपने पथ पर फिर अग्रसर हो जाते हो—उस अज्ञान प्रियतम से मिलने के लिए। उस अज्ञान की मूढ़ता का संकेत कर उस पर अट्टहास करते हुए तुम चल देते हो। अपनी स्वर लहरी से उस पत्थर के हृदय को भी तुम हिला देते हो।

संक्षेप में पर्वत से निकलकर उज्वली धार वाले झरने का हरे जंगलों के बीच प्रवाहित होना तथा पथ में प्रस्तर की चट्टानों से रोका जाना एवं पुनः अग्रसर होना—यही इस रचना का विषय है।

ब) अभिप्रेत अर्थ - प्रपात (जीवात्मा) अचल (ब्रह्म) का एक चंचल एवं क्षुद्र अंश है—वहाँ से यह मचलता हुआ जब इस पृथ्वी पर आ जाता है। तब यह ज्ञानस्वरूप, उज्ज्वल-वर्ण प्रपात, अज्ञान में लिप्त हो जाता है। इसी अज्ञानांधकार से खेलने में इसे सहज आनंद का बोध होने लगता है। संभवतः यह अपने उज्ज्वल ज्ञान-स्वरूप को भूल जाता है। ज्ञान अज्ञान दोनों उसी ब्रह्म के दूत हैं, एक सुप्रबुद्ध है दूसरा अबोध। अज्ञान के ये अबोध दूत इन्द्रियों के रूप में आत्मा के पथ में रोड़े अटकाते हैं—पहले तो आत्मा उन्हें न पहचानकर थोड़ी देर के लिए उनके भुलावे में आ जाती है परन्तु जब उसे बोधोदय होता है वह इस मूर्खता पर हँसती हुई स्वयं अपने प्रियतम के पथ पर अग्रसर हो जाती है।

आलोचना यह लघु कविता निरालाजी के क्रांतिकारी रूप का पूर्ण प्रदर्शन करती है। इसमें उन्होंने छंदों के बंधन तोड़ने में परम प्रवीणता दिखाई है। प्रतीक-विधान सरल एवं स्पष्ट है। दोनों अर्थ सहज ही बोध-गम्य हैं। इस कार्य के लिए कवि ने श्लेष का कृत्रिम अवलंब नहीं लिया है। इसका नादसौंदर्य अपूर्व है। भाषा सरल और आडंबर हीन है।

पंत

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि'

प्रवेश—इस रचना के विषय में आचार्य शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं—

"उनकी (पंत की) जो एक बड़ी विशेषता है प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग खुल जाते हैं। 'वीणा' की कविताओं में इसने लोगों को बहुत आकर्षित किया—"

रचनाकाल—यह रचना १९१९ की है सर्वप्रथम 'वीणा' में प्रकाशित फिर 'आधुनिककवि' में संकलित।

छंदोविधान—छायावादी युग ने छंदों की छपाई के रंग-ढंग को कुछ इस प्रकार बदल दिया है और पुराने छंदों को कुछ इस बुरी तरह त्याग दिया है कि सहसा पुराने छंदों को नवीन कवियों के हाथ में पड़ा देख पहले तो हम पहचान नहीं पाते, फिर पहचानने पर सहज ही आश्चर्य चकित हो जाते हैं। इस रचना में हिंदी का बहुत पुराना मात्रिक छंद, आल्हाखंड के रचयिता जगनिक द्वारा चलाया हुआ, वीर छंद या आल्हा व्यवहृत हुआ है। इसमें ३१ मात्राएँ होती हैं अंत में गुरु लघु होते है और १६, १५ पर यति होता है। छंद में चार चरण होते हैं। आल्हा अतुकांत होता है, पर इसी छंद में रचित अन्य साहित्यिक रचनाएँ तुकांत होती हैं जिनमें प्रत्येक दो चरण समान्त्यानुप्रास होते

है। पूरा चरण एक ही पंक्ति में लिखा जाता है। पंतजी ने प्रत्येक चरण को तोड़कर कवित्त के समान दो-दो, पंक्तियों में लिखा है और इस प्रकार की चार-चार पंक्तियों का एक एक छंद माना है। कहने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि यह ३१ मात्राओं का १६, १५ के विराम से मात्रिक सम छंद न होकर मात्रिक अर्द्धसम छंद है जिसके विषम चरणों में १६-१६ तथा समचरणों में १५-१५ मात्राएँ हैं। हमें इस प्रकार का एक नवीन छंद मान लेने में कोई झिझक नहीं है, परंतु ऐसा मान लेने पर भी इसकी और वीर छंद की गति में कोई अंतर नहीं आता, फलतः एक नए नाम की खोज करना व्यर्थ है।०

इस कविता के प्रारंभ में चार पंक्तियाँ तुक-सी हैं—इसके पश्चात् चार-चार छंदों के तीन दल हैं। तुक वाले चारों चरणों में सम चरणों का एक तथा विषम चरणों का दूसरा तुक है शेष दलों के प्रथम तीन छंदों में प्रथम तीन चरण अतुकांत हैं, चौथा चरण तुक के सम चरणों के साथ तुक मिलाता है। प्रत्येक दल के चौथे छंद की तुक प्रणाली टेक वाले छंद की है। इस प्रकार २, ४; ८, १२; १६, १८, २०; २४, २८, ३२, ३४, ३६; ४०, ४४, ४८, ५०, ५२ चरणों का एक है और १, ३; १७, १९; ३३, ३५; ४९, ५१ का दूसरा तुक है, शेप चरण अतुकांत हैं। इसके अतिरिक्त पहले तुक वाले सभी चरणों के अंत में गुरु लघु वाला नियम नहीं माना गया है, इसमें अंतिम अक्षर भी गुरु है। वस्तुतः इन चरणों में १५ मात्राएँ न होकर १४ मात्राएँ ही हैं, अंत का लघु हटा दिया गया है और ये चरण ताटंक के उत्तरार्द्ध हैं ताटंक और वीर की गति में कोई विशेष अंतर नहीं है। ताटंक के अंत में गुरु होता है उसके आगे एक लघु जोड़ देने से वही वीर छंद हो जाता है। प्रसादजी ने भी अपनी चतुर्दशपदियों में ताटंक एवं वीर का मिश्रण स्थान-स्थान पर किया है। छायावादी कवियों के साथ यह कोई दोष नहीं।

भाषा—यह कविता पंतजी की प्रारंभिक रचनाओं में से है अतः सहज ही इसमें बाल्यावस्था की सरलता स्पष्टता, और चपलता है। बनावट की बू से दूर रहने के कारण इसमें मिठास अत्यधिक है। प्रभात का यह कोमल चित्र उतनी ही कोमल भाषा में व्यक्त होकर निखर उठा है।

टिप्पणियाँ

टेक—प्रभात काल होते ही ब्राह्म वेला में चिड़ियाँ कलरव करने लगती हैं कवि बाल-सुलभ सहज भोलेपन से उन चिड़ियों से पूछता है—

हे रंगिणी, तुझे यह कैसे ज्ञात हो गया कि सूर्य की प्रथम किरण अब आ रही है जो उसके स्वागत के लिए तू इस प्रकार चहचहा रही है। हे बाल विहंगिनि तुझे यह संगीत माधुरी, यह विविध स्वर लहरी कहाँ कहाँ से मिली है ?

प्रथम दल—

अभी-अभी तू अपने पंखों की गर्मी का सुख अनुभव करती हुई अपने नीड़ में सो रही थी और सुख-स्वप्न देख रही थी। तेरे नीड़ के द्वार पर बहुत से जुगनू प्रहरियों के समान घूमते हुए भी ऊँघ रहे थे।

अभी-अभी शशि किरणों के सहारे पृथ्वी पर उतर कर अपनी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले अनेक नभ चर नवल कलियों के मृदु मुख चूम-चूम-उन्हें मुसकुराना सिखा रहे थे।

तारों के प्रदीप स्नेह-हीन होकर अभी जलते जा रहे थे; तरु के पत्ते अभी श्वास-हीन थे (प्रभात पवन अभी नहीं भूल रहा था, बंद था)। पृथ्वी के लोग अभी सो ही रहे थे और अंधकार का मंडप उनके ऊपर तना हुआ था।

सहसा हे तरुवासिनि, तू प्रथम रश्मि के स्वागत में कूक उठी—हे अंतर्यामिनि, तुझसे किसने कहा कि अब वह आ रही है।

द्वितीय दल—

अभी संसार अंधकारमय था—इस अंधकार के गर्भ से निकलकर अनेक छाया-तन हिंस्र पशु, मोर आदि) तथा छाया-हीन (मृत प्रेत चुड़ैल आदि) खल एवं निशिचर कुचक्र रच रहे थे जादू टोना कर रहे थे।

अभी चंद्रमा रात भर के परिश्रम से श्री हीन होकर अपना मुख छिपाना ही चाहता था। अभी भौंरा कमल कोष में बंदी बना ही हुआ था। अभी चकवा चकवी अपने प्रिय से वियुक्त दूर-दूर पड़े शोक मग्न ही थे।

इंद्रियाँ अभी शिथिल थीं; सारा संसार नीरव था, जड़ चेतन में कोई भेद नहीं रह गया था—सभी अभी निश्चल हो रहे थे; विश्व शून्य था, केवल साँसे आ जा रही थीं। हे बहु-दर्शिनि, तूने सर्वप्रथम जागरण गीत गाया। हे नभ-चारिणी तूने श्री सुख-सौरभ का ताना-बाना संपूर्ण विश्व में गूँथ दिया।

तृतीय दल—

अंधकार अभी तक निराकार था—अंधकार ने सभी वस्तुओं के आकार को अभी तक छिपा रखा था उनकी पहचान नहीं हो सकती थी, उनका न तो कोई रूप था और न उनके। कोई नाम ही दिया जा सकता था। सहसा यह अंधकार प्रभा पुंज में बदल गया। सारी वस्तुओं ने रूप और नाम प्राप्त कर लिया।

पत्तों में कंपन छा गया—सोया समीर अब जग उठा और चलने के लिए मचलने लगा। फूलों की पंखुड़ियाँ मुसकरा पड़ीं (रंगीन फूल खिल उठे) जैसे मोती का दाना हिल उठा हो (उनकी मुसकान मोती के सदृश थी)।

मुंदी पलकें खुल गईं—चतुर्दिक सुनहली छवि छलक उठी; सौरभ

निखर उठा, भौंरे चंचल हो उठे, ससार में नव स्पदन, अभिनव कंपन तथा स्फूर्तिमय जीवन आ गया।

हे रंगिणि, तूने प्रथम रश्मि के आगमन की बात कैसे जानी ?

दुख - सुख

विषय—१९३१ ई० से कवि पत की सुकुमारता का अंत होता है और उनमें जीवन-दर्शन का प्रवेश होता है। अभी तक वे जीवन की पुष्प शैय्या ही अपनाते आए थे। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि यहाँ गुलाब की कोमल पखुड़ियाँ हैं तो उसके तीव्र शूल भी हैं। जीवन दुख और सुख का मिश्रण है ; न तो वह केवल दुख है, न शुद्ध सुख। उसी भावना को कवि ने इस रचना में स्पष्ट किया है।

छद—यह १४ मात्राओं का मात्रिक सम छद है। प्रसादजी ने इसी का प्रयोग सुप्रसिद्ध 'आँसू' मे किया है। इसकी गति छदः प्रभाकर में वर्णित 'सखी' छद से मिलती है, दोनों में भेद इतना ही है कि 'सखी' का अंतिम अक्षर गुरु होना चाहिए। पतजी ने स्वेच्छानुसार इस बंधन को स्वीकार नहीं किया है। इसके चारों चरणो में मात्राएँ समान हैं। कविता ५ छदों में विभक्त है। सब की तुक प्रणाली विभिन्न है। १, ३, ४ छदों मे तुक प्रणाली उर्दू की रुबाई-सी है जिसमें प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों का एक तुक होता है, तृतीय चरण तुक हीन होता है। दूसरे छद में केवल सम चरणों का तुक मिलता है किंतु पाँचवें मे सम का सम से एवं विषम का विषम से तुक मिलता चलता है।

रचना काल—फरवरी १९३२—सर्वप्रथम गुंजन में प्रकाशित फिर आधुनिक कवि में संकलित।

टिप्पणियाँ

(१) मैं चिरसुख नहीं चाहता—मैं चिरदुख भी नहीं चाहता। जिस प्रकार जब लड़के आँख मिचौनी खेलते हैं, तब सब लड़कों को छिपने का अवसर देने के लिए एक लड़का 'चोर की आँख मूँद लेता है और सब के छिप जाने पर उसकी आँखें खोल देता है, उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सुख-दुख निरंतर जीवन से आँख मिचौनी खेलते रहें। जिस प्रकार उक्त खेल में आँखें क्रमशः खुलती मुँदती रहती हैं, उसी प्रकार जीवन में सुख-दुख आते रहने चाहिए।

बिना दुख के सुख है निस्सार।
बिना आँसू के जीवन भार॥

—पंत

एक ही की निरंतर उपस्थिति से जीवन नीरस हो जायगा और उसका अनुभव हम नहीं कर पाएँगे। सुख-दुख वस्तुतः सापेक्ष वस्तुएँ हैं। एक के बिना दूसरे का अनुभव नहीं किया जा सकता। बिना कड़वे का आस्वाद हुए मीठे का पता हमें नहीं हो सकता।

(२) यह जीवन सुख एवं दुःख के मधुर मिलन से परिपूर्ण हो। दुःख के बादल में सुख का चाँद छिपे, पर सदा के लिए नहीं; थोड़ी देर के बाद चाँद बादल से बाहर आ स्वय उसे ज्योत्स्ना-रंजित कर दे। यहाँ शशि सुख का एवं बादल दुःख का प्रतीक है।

(३) जग अत्यंत दुःख से पीड़ित है—अधिकांश लोग निर्धन एवं दुःखी हैं—जग कुछ लोगों के अत्यन्त सुख के कारण पीड़ित है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह नहीं जानते दुःख क्या है। संसार के सारे सुख को उन्होंने अपने पास संचित कर रखा है, फलतः शेष लोग इन सुखों से वंचित हैं। अच्छा हो यदि दुःखियों का सारा दुःख एवं सुखियों का सारा सुख सबमें समान रूप में बँट जाय।

४) लगातार दुःख उठाने से जीवन पीड़ित होता है; लगातार सुख उठाने से भी जीवन का आनंद नहीं मिलता। जीवन दुःख की निशा में सोता एवं सुख की दिवा में जगता है। (अंतिम दो चरणों में यथासंख्य अलंकार की छटा दर्शनीय है।) जिस प्रकार जीवन को स्वस्थ रखने के लिए दिन में जगना और रात में सोना आवश्यक है, उसी प्रकार दुःख एवं सुख भी इसकी पूर्णता के लिए परमावश्यक हैं। बिना दुःख उठाए दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का विकास नहीं होता।

(५) जीवन दुःख की संध्या और दुःख की उषा की क्रीड़ा के लिए आँगन है। इसमें दुःखद विरह एवं सुखद मिलन का चिरंतन आलिंगन होता रहता है। मानव-जीवन का आनन सुख से हासमय एवं दुःख से अश्रुमय होता रहता है प्रसाद ने कहा है—

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का।
सुख दुःख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का॥

—आँसू।

सबके उर की डाली

विषय—इस कविता का भी विषय सुख-दुःख ही है—

'सुख-दुःख न कोई सका भूल!'

रचनाकाल—फरवरी १९३२—सर्वप्रथम गुंजन में प्रकाशित फिर आधुनिक कवि में संकलित।

छंद—इस छंद के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हैं—

—'देखूँ सबके उर की डाली'—

इस चरण को छोड़ शेष सभी चरणों के अंत में गुरु लघु आए हैं जो पद्धरि' का लक्षण है। साधारण पद्धरि में १६ मात्राओं के चार चरण होते हैं पर अत में गुरु लघु होता है। यहाँ प्रत्येक छंद में तीन-तीन चरण हैं। यह कविता स्पष्ट ही दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में टेक का उपरोक्त चरण और तीन-तीन चरणों के तीन छंद हैं जिसमें प्रत्येक चरण मे केवल प्रश्न किए गए हैं। दूसरे भाग के प्रारभ में भी वही प्रथम पक्ति है अत में तीन चरणों का एक छंद है। टेक की पक्ति को छाड़ प्रत्येक छंद के तीनों चरणों में एकही तुक है। यह मात्रिक विषम छंद है।

टिप्पणियाँ

पूर्वार्द्ध—मैं सबके उर की डालियों को देखना चाहता हूँ कि किसने-किसने क्या क्या फूल चुने हैं जग का छवि उपवन अकूल है, इसमें कलि किसलय कुसुम शूल सभी हैं। देखना है किसने कुसुम चुने हैं किसने कंटक ? किसने किस छवि एवं किस मधु के मधुर भाव का सचय किया है ? किसको किस रंग, रस और रुचि से अनुराग है। कवि अतर्यामी होता है, वह सबके हृदय की बात जानता है, उससे कोई किसी प्रकार का छिपाव नहीं कर सकता। मैं देखना चाहता हूँ कौन कोकिल के समान विरह की तान ले रहा है, कौन मधुकर के समान मधुर मिलन के गीत गा रहा है, कौन प्रफुल्ल प्रसून के समान उत्फुल्ल है, कौन म्लान मुकुल के समान मुरझाया है।

उत्तरार्द्ध—मैं देखना चाहता हूँ किसकी डाली में क्या है—परीक्षा के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ—

सबके हृदयों में कुछ तो सुख के तरुण फूल हैं, सब में कुछ दुःख के कंटक भी हैं। कोई भी सुख और दुःख दोनों में से किसी को भूल नहीं सका है—प्रत्येक के जीवन में दोनों हैं।

भाषा—भाषा प्रौढ एव विशुद्ध हिंदी है

दो लड़के

छंदों विधान—'दो लड़के' का छंद मात्रिक सम है। प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ हैं, प्रत्येक दो पंक्तियों का तुक मिलता चलता है।

भाषा—इस कविता की भाषा प्रगतिवादी कविता के अनुकूल हिंदी, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी सब भाषाओं से उपयुक्त शब्द-चयन करती है। इसमें अक्सर, जल्दी, खाली, फ़ीता, तस्वीर, खुश, अंदर जैसे उर्दू शब्द सिगरेट, कवर जैसे अंगरेजी शब्द गदबदे जैसा देशज शब्द एवं मानव, मांसल, वह्नि, उल्का, प्रासाद, साम्राज्य जैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा एवं भाव की दृष्टि से इस रचना को सहज ही दो भागों में बाँटा जा सकता है। पूर्वार्द्ध पीठिका का काम करता है, इसमें भाषा पचमेल है। उत्तरार्द्ध पंत का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करता है; इसकी भाषा विशुद्ध एवं उच्च हिंदी है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है।

विषय—छः सात साल के दो पासी के नाटे, मांसल, साँवले रंग के बच्चे, नंगे तन कवि के आँगन में अक्सर चले आते हैं और कूड़े से सिगरेट के खाली डिब्बे, चमकीली पन्नी, फीतों के टुकड़े, मासिक पत्रों के कवरों की नीली पीली तस्वीरें आदि उठा ले जाते हैं। वे इन्हें परमनिधि समझकर आंतरिक आह्लाद से विभोर हो किलकारियाँ मार उठते हैं। उन्हें प्रायः अपने यहाँ आता देख कवि को मानव मात्र के नाते सहज स्नेह हो जाता है। और वह चाहता है कि यदि सभी अभेद रूप से मानव मात्र को सहज स्नेह करें तो स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आए।

कविता प्रगतिवादी है और भेद-भाव को अवांछनीय समझती है। कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ बौद्धिक है।

विचारधारा—यह संसार अस्थि मांस के जीवों का ही घर है यह आत्मा का अधिवास नहीं है, वह तो सूक्ष्म एवं अनश्वर है। यह सूक्ष्म आत्मा रक्तमांस के शरीर पर न्योछावर है। आत्मा अमर है सबल है, शरीर भंगुर है, निर्बल है। इस जग का अधिकारी दुर्बल शरीर ही है। मनुष्य का कोमल शरीर वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषणता को सह नहीं सकता। प्रकृति निष्ठुर है। मनुष्य को मनुष्य रूप में रहने के लिए मनुजोचित साधनों की आवश्यकता है। प्रकृति पर अपना कोई बस नहीं है, किंतु मानवता प्रबुद्ध है, वह यदि एक दूसरे के प्रति मनुजोचित व्यवहार करें तो यह जग सहज ही स्वर्ग बस सकता है। मनुष्य मनुष्य को मनुष्य नहीं समझता, इसीलिए जगत, नरक-सदृश हो गया है। अंग्रेज कवि बायरन ने कहा है—

What man has made of man.

कवि कहता है—

क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर?
जीवन का प्रासाद उठे भूपर गौरवमय
मानव का साम्राज्य बने, मानवहित निश्चय।

कवि के अनुसार स्वर्ग का रूप है—

'जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छाएं जन की हों पूरित
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,'—

वही स्वर्ग है!

आलोचना—इस कविता में चिंतन प्रधान हो गया है—मस्तिष्क ने हृदय का स्थान ले लिया है, फलतः यह रसवती नहीं है और

रस ही काव्य की आत्मा है। विचारधारा प्रौढ़ है कवि का दृष्टिकोण भौतिक है; वह आत्मा के ऊपर शरीर को प्राधान्य देता है। यह हमारे यहाँ के आदर्शों के प्रतिकूल है। और पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित है। जहाँ तक मानवमात्र के परस्पर प्रेम का संबंध है, इस सिद्धांत के विरुद्ध कोई नहीं जा सकता।

मुद्रक–वासुदेव, आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, काशी